आश्विन सं० १९८९ वि०　　　　अक्टूबर सन् १९३२ ई०

वैदिक विज्ञान

नमूना अङ्क

इस अङ्क में पढ़िये

सम्पादक—श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालङ्कार,

वार्षिक मूल्य ४) रु०　　　　प्रति अङ्क ।=)

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिकविज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २।), नमूने की प्रति ।=) के टिकट भेज कर मँगाइये

२—"वैदिकविज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।

३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज, प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।

४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।

५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।

६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।

७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।

८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।

९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो, तो अपने ही पोस्ट आफ़िस से उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें, तो उसके लिए हमें लिखना चाहिए।

१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।

११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।

१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर करना चाहिये।

१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है। प्रवन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट में नहीं छापे जायंगे।

साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।

छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।

पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०) प्रति मास।

आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वालों को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ़्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानों के लिये

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	२०) प्रति मास।
पाठ्य विषय में	१२) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फार्म के प्रति फ़ार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी होगा। भारी क्रोड़-पत्रों का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

विषय-सूची

हमारा उद्देश्य और कर्त्तव्य

वर्त्तमान समय की बुरी आर्थिक स्थिति को देखकर किसी भी व्ययापेक्षी कार्य को छेड़ लेना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है। ऐसी दशा में फिर वेद जैसे धार्मिक विषय पर एक उच्चकोटि का मासिक पत्र निकालना 'आर्य साहित्य मण्डल' के लिये एक बड़ी समस्या का विषय है, परन्तु दूसरी ओर जब मण्डल के संचालकों के सामने उद्देश्य और कर्त्तव्य का प्रश्न उपस्थित होता है तो विवश होकर कठिन से कठिन कार्य भी करने के लिये उद्यत होना पड़ता है। वस्तुतः 'वेद' आर्य सभ्यता के मूल, आधार और प्राण हैं, समस्त प्राचीन धर्मों का विकास एक मात्र वेद है, आर्यसमाज की सबसे बड़ी धार्मिक सम्पत्ति 'वेद' है, वेद हम आर्य पुरुषों का प्राण हैं, वेद जीवन है, 'वेद' गुरु वाक्य है, 'वेद' परम प्रमाण है, वेद सर्वस्व है। हमारा वेद सुरक्षित है तो सब सुरक्षित है और यदि वेद नष्ट हो गया तो सब नष्ट होगया समझिये।

चाहे हम कितने भी उदासीन हो जांय तो भी जरा सावधान होकर विचारें तो आर्यसमाज का समष्टि जीवन ही वेद के लिये है, आर्यसमाज वैदिक धर्म का प्रचार करता है, उसके प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने इन्हीं वेदों के प्रचार के लिये अपना सारा जीवन अर्पण कर दिया। आर्यसमाज की समस्त संस्थाएं क्या गुरुकुल और डी० ए० वी० स्कूल व कालेज और क्या अन्य आर्य विद्यालय सभी वेद की रक्षा, वेद के स्वाध्याय और वैदिक शिक्षा के लिये ही खुले हैं इतना होने पर भी यदि हम वेद को सहसा भुला दें तो वस्तुतः हमसा अभागा और हमसा मूर्ख दूसरा नहीं मिलेगा।

वर्त्तमान में वेद के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने जो भी भगीरथ प्रयत्न किया है उसका बड़ा भारी भयंकर परिणाम यह हुआ है कि हमारे धर्म प्राण 'वेद' जिनको हम समस्त आर्यसन्तान—क्या आर्यसमाजी क्या हिन्दू—अगाध श्रद्धा से देखते थे अब उनको तुच्छ और तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। हमारे हृदयों में वेद के प्रति कलुषित भावों ने स्थान प्राप्त कर लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि योरोप में वेदों के ऊपर रात दिन परिश्रम करने वाले अनेक विद्वान् हैं, वे बराबर अनुशीलन करके बड़े २ ग्रन्थ निर्माण कर रहे हैं। उनके किये अंग्रेजी, जर्मन और फ्रेञ्च भाषा में अनुवाद निकल रहे हैं, इनको वर्त्तमान भारतवर्ष के पढ़े लिखे नवयुवक भी बड़े चाव से पढ़ते हैं, परन्तु उसका हम पर घातक प्रभाव होता है हम उनको पढ़कर वेदों से उदासीन हो जाते हैं, अनादि काल से जमी हुई हृदय की श्रद्धा को खो बैठते हैं और यह विचार भी नहीं करते कि हम अपने धर्म रूप वेदों को स्वयं अपनी आंखों से पढ़ें। उनपर विचारें और देखें कि विदेशी, विधर्मी, लोगों ने जिस उच्छृंखलता से वेदों पर आक्षेप किये हैं वे कितने सच्चे और कितने कच्चे हैं।

हमने मूर्खतापूर्ण तरीके से वेदों के प्रति अपनी वास्तविक श्रद्धा को तिलाञ्जलि दे दी और पाश्चात्य विद्वानों पर आंख मीच कर श्रद्धा करली, यदि आंख मीचकर ही श्रद्धा करनी थी तो वेदों पर जमी श्रद्धा क्या बुरी थी, परन्तु नहीं, हमने भ्रम में पड़ कर, अन्यों के बहकावे में आकर अपने धर्मग्रन्थों की श्रद्धा पर लात मार दी और वैसी ही अन्धश्रद्धा कुतार्किकों के असत्य वचनों पर जमाली और उनके ही स्वर में स्वर मिलाने लगे।

भारतवर्ष भर में वेदों के प्रति हमारा भारतीय स्वत्व नष्ट होता जा रहा है और आर्य जाति के नवयुवकों पर विलायती विचारों की छाप गहरी लगती जारही है। यह अनर्थ कोई भी सहृदय श्रद्धालु व्यक्ति एक क्षण के लिये भी सहन नहीं कर सकेगा। अपने धर्मग्रन्थों की ऐसी तिरस्कारपूर्ण उपेक्षा और निन्दा को सुनकर सच्चे आर्य को अवश्य गहरी चोट लगेगी। ऐसी दशा में क्या हमारा कर्त्तव्य हमें यह आज्ञा नहीं देता कि विलायती प्रतिपत्तियों के मुकाबले पर हम वेदों की रक्षा के लिये कटिबद्ध हो जावें। अन्धश्रद्धा से वेदों को न मान कर स्वयं अपनी आंखों से वेद के रत्नों का अवलोकन करें।

बड़ा खेद तो इस बात का है कि वेदों पर परम श्रद्धा रखते हुए भी हमारे हिन्दू सनातनी विद्वान् अभी तक भी इस वैज्ञानिक युग में योरोप के किये वेदों पर कड़े आक्षेपों को सुन कर उनका समाधान करने का यत्न करना तो दूर रहा उल्टे उन पर जब स्वयं कुछ विचार या परिश्रम करते हैं तो अपनी उसी अन्धश्रद्धा की चाल पर वेदों की कल्पित मूर्त्तियां और शकलें बना बना कर जगत् भर के उपहासपात्र बनते हैं और वेद से अनभिज्ञ जनता में और भी अज्ञान फैला कर आक्षेपकों को एक और अवसर देते हैं कि वे जनता को वेदों के विरुद्ध कल्पनाओं में फंसा दें।

आर्य समाज वेदों को अपोरुषिय मानता है, वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानता है, आर्य समाज में दीक्षित आर्य पुरुषों को इन्हीं मन्तव्यों पर स्थिर भाव रखना चाहिये। पर खेद है कि आर्य पुरुषों में भी अभी बहुत से हैं जो अपने इन मन्तव्यों पर दृढ़ नहीं हैं। उनको वेदों में इतिहास दीखता है, वेद ईश्वरीय ज्ञान प्रतीत नहीं होता, वे वेदों की अनादिता में नाना प्रकार से संदेह प्रकट करते हैं, क्योंकि उनपर विपक्षी लोगों के किये आक्षेपों का प्रभाव है और उसके विपरीत समाधान करनेवाला प्रकाश उनतक पहुंचा ही नहीं है।

ऐसी स्थिति में हम अपने ऊपर बड़ा भारी कर्त्तव्य अनुभव कर रहे हैं। 'आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड' के सञ्चालकों के चित्त में यह बहुत दिनों से भावना उठ रही थी कि वह एक उच्च कोटि का मासिक पत्र प्रकाशित करे, कि जो वेद के अनुशीलन से प्राप्त सत्य वैदिक सिद्धान्तों से पूर्ण हो। वेद के गौरव की रक्षा करे और आर्य सभ्यता और आर्य संस्कृति की भली प्रकार रक्षा करे, तथा वेदों पर होने वाले आक्षेपों का अच्छी प्रकार उत्तर दे।

सञ्चालकों का यह निश्चय और भी दृढ़ होगया जब कि २५ फरवरी १९३२ के आर्यमित्र में श्री पं०सातवलेकरजी के 'वैदिक धर्म' और औंध में स्थित स्वाध्याय मण्डल, के तात्विक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सम्पादक का वक्तव्य पढ़ा। उसी समय यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि चाहे आर्थिक कठिनाइयों के कारण हमें कितने ही विघ्न क्यों न हों, वेदप्रेमियों की न्यूनता और आर्य पुरुषों की खेदजनक उदासीनता से चाहे पत्र का चलना कठिन ही हो जाय तो भी ऐसा एक पत्र शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित कर देना चाहिये।

इस सम्बन्ध में वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् गुरुकुल के उपाचार्य श्री विश्वनाथजी विद्यालंकार और वेदों के भाष्यकार श्री पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालंकार मीमांसातीर्थ तथा अन्यान्य विद्वान् पुरुषों से भी आवश्यक परामर्श लेकर वैदिक विज्ञान को निकाल देने की घोषणा कर दी।

हमारा ध्येय सदा यही रहेगा कि इस पत्र में (१) वेद मन्त्रों की वैज्ञानिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक व्याख्याएं सरल व सुबोधरूप में प्रकाशित हों, (२) वैदिक सिद्धान्तों पर विद्वानों के उत्तम उत्तम लेख निकलें, (३) वेदों पर किये गये पूर्वीय वा पाश्चात्य विद्वानों के आक्षेपों के समाधान किये जांय और उनके आक्षेप योग्य भाष्यों, अनुवादों और अनुशीलनों की अच्छी प्रकार आलोचना की जाय।

हमें पूर्ण आशा है कि पत्र के सुयोग्य विद्वान् सम्पादक अवश्य अपने ध्येय को सुचारु रूप से सम्पादित करेंगे और वेदप्रेमी जनता इस उद्योग से भरपूर लाभ उठावेगी।

इसके अतिरिक्त हम आर्य जनता से अवश्य अपील करेंगे कि वह हमारे इस उद्योग और साहस को सच्चे दिल से अपनावे। प्रत्येक आर्य पुरुष इस पत्र के स्वाध्याय से लाभ लेकर अपने प्राणप्रिय 'वेदों' का स्वाध्याय करे और अपना कर्त्तव्य समझे कि वह इस वेदरक्षा के प्रयत्न में हमें कभी शिथिल न होने दे तथा किसी प्रकार भी आर्थिक संकट में न पड़ने दे।

'मण्डल' ने अपना कर्त्तव्य पालन कर दिया अब वेदप्रेमी जनता का क्या कर्त्तव्य है इस प्रश्न को वह कभी न भूलेगी ऐसी दृढ़ आशा है। ईश्वर हमारे इस उद्योग को सफल करे। ओ३म् शम्।

निवेदक—

मैनेजिंग डाइरेक्टर,

आर्य-साहित्य मंडल, अजमेर।

वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष १	आश्विन संवत् १९८९ वि०, अक्टूबर सन् १९३२ ई०	सं० १

वेदोपदेश

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥

अथर्व० कां० ४ । सू० १६ । मं० २ ॥

“जो ठहरा हुआ है या चल रहा है, जो वञ्चना कर रहा है अर्थात् किसी को ठग रहा है या छिप कर दाव घात लगाने के लिये विचर रहा है, या दूसरे के जीवन को कष्ट पहुंचाना चाहता है—इन सब को राजा वरुण देखता है। तथा दो साथ २ बैठ कर जो कुछ मन्त्रणा करते हैं राजा वरुण सदा उनमें तीसरा होकर बैठा रहता है और उन की मन्त्रणा को जानता है”।

इस मन्त्र का उपदेश कितना रम्य और हृदय-ग्राही है। इस मन्त्र के प्रत्येक शब्द में क्या जादू भरा पड़ा है—इसे वे ही जान सकते हैं जिन्हें संस्कृत के शब्दों का अभ्यास करने का कुछ सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आचार-शास्त्र की दृष्टि से यह मन्त्र बहुत ऊंची कोटि का है। वैदिक आचार-शास्त्र में प्रेरक-भाव है “परमात्मा की इच्छा”। वेदानुयायी अपने आचार को ठीक करने के लिये यह देखता है कि अमुक आचार के सम्बन्ध में परमात्मा की इच्छा क्या है, वह अमुक आचार को किस दृष्टि से देखता है? वैदिक आचार-शास्त्री परमात्मा की रचना में उस रचयिता के नियमों, प्रबन्धों, उसकी इच्छाओं और उसकी भावनाओं की खोज करता है, और इनके ज्ञात हो जाने पर वह उन नियमों, प्रबन्धों, इच्छाओं और भावनाओं के अनुकूल नियमों, प्रबन्धों, इच्छाओं तथा भावनाओं को ढालता है यह संसार परमात्मा का घर है। उसके घर में उसी के प्रबन्धों के अधीन तथा उसी की इच्छाओं के अनुसार रहना चाहिये। मनुष्य जब उसके प्रबन्धों के

अधीन अपने आपको कर देता है और उसी की इच्छाओं के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने लगता है तो वैदिक दृष्टि में उसे सदाचारी कहेंगे। परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्व शक्तिमान् है, न्यायकारी है तथा परोपकारी है, अतः वह ग़लती नहीं कर सकता, शक्ति न होने के कारण उल्टा काम नहीं कर सकता, अन्याय से सदा मुक्त रहता है और किसी का बुरा करना नहीं चाहता। इस प्रकार के आदर्श-प्रेरक की इच्छाओं के अनुसार चलने से संसार में वस्तुतः सुखों की वृद्धि हो सकती है और पारस्परिक प्रेम भाव अधिक बढ़ सकता है। इस रंग में रंगा हुआ आचार ही वस्तुतः आचार है।

इस मन्त्र में संक्षेप से यह भाव कहा गया प्रतीत होता है कि "परमात्मा सर्वज्ञ है, उससे कोई बात छिप नहीं सकती"

वह प्रत्येक अवस्था में स्थित संसार के प्रत्येक पदार्थ को जान रहा है। जिन क्रियाओं का आचार-शास्त्र में समावेश नहीं—जैसे कि खड़ा होना या चलना इत्यादि—उन क्रियाओं को भी वह जानता है, वह इतना सर्वज्ञ है। यह उसके स्वभाव में है कि वह प्रत्येक वस्तु की प्रत्येक क्रिया को जाने। जो परमात्मा ऐसा है उससे वे क्रियाएं कैसे छिप सकती हैं जिन्हें कि वह बुरा समझता है, जिनसे कि दूर रहने के लिये उसने मनुष्यों को उपदेश दिया है। ऐसी निषिद्ध क्रियाओं के दो चार उदाहरण इस मन्त्र में दिये हैं। जैसे कि (१) किसी की वञ्चना करना, किसी को ठगना, किसी की अज्ञानता से कोई दुरुपयोग उठाना, (२) छिप कर किसी के दाव-घात में विचरना। (३) किसी के जीवन को कष्ट पहुंचाने के लिये विचारना। (४) एकान्त में बैठकर किन्हीं दो व्यक्तियों का षड्-यन्त्र रचना। इस मन्त्र में इन कामों को बुरी दृष्टि से देखा गया है। क्योंकि यहाँ यह कहा गया है कि जो व्यक्ति भी ऐसे काम करते हैं। उन व्यक्तियों को तथा उन व्यक्तियों के ऐसे कामों को वह सर्वज्ञ जान रहा होता है। आचार-शास्त्री जब यह समझ लेता है कि कोई भी काम परमात्मा से छिप कर नहीं किया जा सकता, कोई काम भी ऐसा नहीं किया जा सकता जिसका कि पता परमात्मा को न लगे तब वह उसे कर्म-फल-दाता, न्यायकारी तथा सर्वशक्तिमान् जानता हुआ उन कर्मों से पृथक् रहने की कोशिश करता है, जो कार्य्य परमात्मा की दृष्टि में उसे बुरे प्रतीत होते हैं। इसलिये इस मन्त्र में कहा गया सदाचार का प्रेरकभाव वास्तव में बहुत ही ऊंचा है।

"वैदिक विज्ञान"

लें०—नारायण स्वामी रामगढ़

मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वेद सम्बन्धी शिक्षाओं के प्रकट करने तथा वेदों से सम्बन्धित अनेक कठिन विषयों की खोज करने के लिये उपर्युक्त पत्र आर्य्यसाहित्यमंडल अजमेर की ओर से वेदों के उत्कृष्ट विद्वान् श्रीयुत् पं० विश्वनाथजी महोपाध्याय गुरुकुल कांगड़ी के सम्पादकत्व में निकलने वाला है—वेद से सम्बन्धित अनेक बातें खोज करने योग्य हैं जिन के सम्बन्ध में अबतक कुछ भी नहीं किया गया है—आशा है कि यह पत्र चिरजीवी और अपने उद्देश्य में सफल होगा आर्य्यसमाज के तीसरे नियम में वेदों का स्वाध्याय प्रत्येक नर नारी के लिये आवश्यक ठहराया गया है। परन्तु यह सचाई है कि इस कर्तव्य के पालन करने में अधिकांश बहनें और भाई प्रमाद करते हैं। यह बात भी किसी एक अंश में बिलकुल सच है कि आर्य्यसमाज के विरोधी आक्षेप करने के उद्देश्य ही से क्यों न सही, जितना वेदों का अध्ययन करते हैं उतना आर्य्यसमाज के अनेक सदस्य नहीं करते हैं। यह बेढंगी चाल बदले बिना काम नहीं चलेगा इसलिये प्रत्येक आर्य्य को जो कार्य्य भी वेदाध्ययन में सहायता देने के लिये किया जावे उसका स्वागत करना चाहिये। इसलिये यह भी आशा है कि आर्य्य संसार से "वैदिक विज्ञान" का स्वागत होगा—

विवाह का वैदिक आदर्श

[ले०—श्री प्रो० सत्यव्रतजी विद्यालंकार]

१. मनुष्य जीवन का महत्व

भारत के ग्रामीण लोगों की मजलिस में बैठ कर वहां की चर्चाओं को सुना जाय तो उनमें कई रहस्यमय गुण सुनाई पड़ते हैं। वे लोग अक्सर कहा करते हैं कि मनुष्य जीवन ८४ लाख योनियों के बाद मिलता है। एक अन्धे का दृष्टान्त दिया जाता है जो ८४ लाख दरवाजों वाले मकान की भीतर उसकी दीवार के साथ रास्ता टटोल रहा है। इनमें से केवल एक कोठरी का दरवाजा खुला है जिसमें से केवल बाहर निकला जा सकता है, बाकी सब दरवाजे बन्द हैं, परन्तु जब वह अन्धा हाथ से टटोलता २ खुले दरवाजे के समीप पहुंचता है तो उसे खुजली उठती है और वह आगे निकल जाता है और फिर ८४ लाख दरवाजों को खटखटाने के फेर में पड़ जाता है। जिन लोगों ने हमारी समाज में ऐसे कथानकों को एक २ झोपड़े तक पहुंचाया था, मालूम नहीं उन्होंने ८४ लाख योनियों की गिनती की थी या यूं ही इस संख्या को निश्चित कर दिया था। परन्तु इससे इतना अवश्य प्रतीत होता है कि वे लोग जीवन को एक खिलवाड़ नहीं समझते थे। इसे एक समस्या समझते थे और खास कर मनुष्य जीवन को तो बड़ी विषम समस्या समझते थे। उनका कहना था कि मनुष्य की योनि बड़ी दुर्लभ है, और इसे पाकर उसके साथ खिलवाड़ करना मूर्खता की पराकाष्ठा है।

मनुष्य-जीवन को इतना दुर्लभ मानने वालों की दृष्टि उन लोगों की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न होगी जो जीवन को एक आकस्मिक घटनामात्र समझते हैं। इसे पांच तत्त्वों के पुतले के सिवाय और कुछ नहीं समझते। मनुष्य-जीवन यदि भिन्न जन्मान्तरों की शृङ्खला में केवल एक कड़ी है और यदि इस कड़ी की मजबूती पर सारी जंजीर का मजबूत होना निर्भर है, तो इस जीवन के प्राप्त होते ही एक २ क्षण अमूल्य हो जाता है। इसमें खोये हुए एक भी पल का परिणाम फिर से ८४ लाख योनियों में भटकना हो सकता है। परन्तु इसके विपरीत, यदि यह जीवन एक आकस्मिक घटना है तो इसका मूल्य एक अद्भुत खिलौने से अधिक नहीं रहता। एक गुड़िया को देख कर हम खुश होते हैं और ऐसे लोगों की नज़रों में मनुष्य का शरीर एक चलने फिरने, बोलने वाली ६ फीट की गुड़िया है, और कुछ नहीं। इसलिये जीवन पर उथला विचार करने वाला, उसे आकस्मिक घटना मात्र समझने वाला व्यक्ति दुःख में पड़ कर आत्मघात कर लेना अनुचित नहीं समझता। युरोप में खुदकुशी की तादाद दिनों दिन बढ़ती जा रही है, परन्तु ८४ लाख योनियों के फेर में पड़ने से डरने वाला भारतवासी भूख से तड़पता हुआ, सर्दी से व्याकुल होता हुआ और बीमारी से छटपटाता हुआ भी आत्मघात करने की नहीं सोच सकता। नहीं तो इस देश की ऐसी अवस्था है कि ३५ करोड़ में से ३० करोड़ कभी के आत्म घात कर चुके होते।

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः'

आत्मघात कर इस जन्म के दुःख से बचने का प्रयत्न करने वाला अगले जन्म में इससे भी भयंकर दुःखों को भोगता है, यह वेद का वचन है।

मेरे कथन का अभिप्राय केवल इतना है कि प्राचीन काल के ऋषि मनुष्य-जीवन को एक विशाल समस्या समझते थे और उसके हल करने में उन्होंने अपने ऊंचे से ऊंचे विचारक लगा दिये थे। मनुष्य-जीवन की समस्या का उन्होंने जो हल किया था उसी को आधार बना कर यहां के समाज की रचना

की गई थी। उन्होंने जीवन को सफल बनाने के लिये जीवन का एक आदर्श निर्धारित किया था। जिसके अनुसार इस देश में उत्पन्न हुआ प्रत्येक व्यक्ति आचरण करता था।

२. वह आदर्श क्या था ?

यदि जीवन सचमुच एक समस्या है, अचानक या आकस्मिक घटना नहीं तो इस ससस्या का हल अवश्य होना चाहिये, इसे एक खिलवाड़ की चीज नहीं समझना चाहिये। भारत के प्राचीन ऋषियों ने समस्या का हल जीवन के एक निश्चित आदर्श में बांध कर किया था। वह आदर्श क्या था ? यजुर्वेद में कहा है—

**'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानु पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।**

जो व्यक्ति सब आत्माओं को अपने अन्दर देखता है और अपने को सब में देखता है वह सन्देहों से ऊपर उठ जाता है, निश्चयात्मक जीवन व्यतीत करता है। अपने को अपने अन्दर देखने वाले तो सब हैं परन्तु दूसरे में अपनापन अनुभव करना जीवन का एक विलक्षण, विरला वैदिक आदर्श है। मनुष्य की अन्तरात्मा का विकास इसी को कहते हैं। आज हमारे शहरों की गलियों में सैकड़ों भूखे नंगे कराहते फिरते हैं, परन्तु क्या उनके दुःख को देख कर किसी के हृदय में कराहना उठती है। क्या कोई उनकी तड़प को अनुभव करता है ? क्या कोई यह अनुभव करता है कि वे भी उसी मानव-समाज के अंग हैं जिसका कि मैं और आप ! यदि सचमुच किसी के हृदय में ये भाव उठते हैं तो वेद की दृष्टि में उसका आत्मा विकसित है, वह अपने आदर्श की तरफ जा रहा है, नहीं तो धन धान्य से समृद्ध होने पर भी हम उस पत्थर के समान हैं जिस पर हजारों प्राणियों का प्रतिदिन बध होता है, परन्तु आत्मा न होने के कारण उसका एक आंसू भी नहीं निकलता। महात्मा सुकरात का आत्मा विकसित था क्योंकि वे अपने जहर देने वालों पर रहम की नजर फेंक सकते थे। हजरत मसीह का आत्मा ऊंचा था क्योंकि वे अपने समय के दीन दुखियों के चीत्कारों को अपने हृदय से गूंजता हुआ सुनते थे और उन्हीं की तरह व्याकुल हो जाते थे। महर्षि दयानन्द जीवन के आदर्श पर पहुँच चुके थे क्योंकि वे अपने प्राणों की अपेक्षा अपने को विष देने वाले के प्राणों की रक्षा के लिये अधिक बेचैन थे। जो आत्मा प्राणिमात्र के हृदय के स्पन्दन को अपने भीतर अनुभव कर सकता है वह बड़ा है, महान् है, विकसित है और वह जीवन के वैदिक आदर्श तक पहुंच चुका है। क्योंकि वेद की घोषणा है।

**'मित्रस्य त्वा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।'
'यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनु पश्यतः।'**

इसी भाव के आवेश में क्राइस्ट ने कहा था—

(Come unto me, all ye that labour and are heavy laden, and I will give you rest)

जीवन का वैदिक आदर्श दूसरों के बोझ को अपने हाथों से अपने कन्धों पर लेना है, दूसरे के आंसुओं को अपने आंसुओं में बहा देना है दूसरे के घाव को अपने हृदय के मरहम से चंगा करना है। जीवन को खिलवाड़ समझने वाला व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, परन्तु मनुष्य जीवन को एक अमूल्य देन समझने वाला व्यक्ति ऐसा किये बग़ैर रह नहीं सकता। इसी में आत्मा की उन्नति है, आत्मा का विकास है और इसी में आत्मा अपने लक्ष्य को, अपने आदर्श को पाता है।

३. आदर्श की क्रियात्मकता

प्रश्न हो सकता है कि इस आदर्श को जीवन में क्रियात्मक रूप देने के लिये ऋषियों ने क्या उपाय सोचा था ? इसका उत्तर ऋग्वेद (९। ७०। १) में इस प्रकार दिया है।

चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे
चारूणि चक्रे यहतैरवर्धत'।

सोम चारों भुवनों या आश्रमों को (अन्या निर्णिजे) और ही कुछ बना देता है, उनमें जान डाल देता है। शतपथ (१४ का०) में उन चार भागों का विस्तार करते हुए कहा है:—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्'—

मनुष्य जीवन के आदर्श को क्रियात्मक बनाने का तरीका यह है कि पहिले ब्रह्मचर्य व्रत धारण करे, ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ, बाद को वानप्रस्थ और फिर संन्यास आश्रम में प्रवेश करे। आत्मा को अपने आदर्श तक पहुंचने का, उसे पूर्णरूप में विकसित करने का यही उपाय है। ब्रह्मचर्यावस्था 'स्व' (Self) से प्रारम्भ होती है। यह 'स्व' या अपना आत्मा ही तो आगामी आने वाले विकास का आधार है। इसलिये प्राचीन ऋषियों ने इस 'स्व' की आधार शिला को दृढ़ बनाने के लिये ब्रह्मचर्य का विधान किया था। इस आश्रम में 'स्व' या अपने सिवाय और कुछ नहीं दीखता। ब्रह्मचारी अपने इर्द गिर्द घूमता है। वह अपने शरीर की, अपने मन की और अपने आत्मा की उन्नति करता है। अपने से बाहर उसे देखने को नहीं कहा गया। परन्तु जब वह अपने 'स्व' को दृढ़ बना चुका तब उसे अपने आत्मा को अधिक विकसित करने को कहा जाता है और वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्यावस्था में मनुष्य की दृष्टि केवल अपने तक सीमित थी, परन्तु गृहस्थ में वह अपने 'स्व' के अन्दर दूसरों को शामिल करने का पाठ सीखता है। वेद का कथन है।

'इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि।'
(ऋक् १०।८५।४५।)

एक समृद्ध देश में स्वस्थ माता पिता का दस सन्तानों का परिवार होना चाहिये। ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य की दृष्टि अपने ही ऊपर रहती है, परन्तु गृहस्थ में माता पिता अपनी दृष्टि को अपने ऊपर से उठा कर कम से कम अपनी सन्तानों तक तो विस्तृत कर ही देते हैं। वे खुद भूखे रह सकते हैं परन्तु अपनी सन्तानों को भूखा नहीं देख सकते। खुद कांटों से लुहूलुहान हो सकते हैं परन्तु अपने बच्चों की उंगली में एक कांटा भी चुभता हुआ नहीं देख सकते। त्याग के जीवन की पराकाष्ठा गृहस्थ में है। परन्तु जीवन का वैदिक आदर्श गृहस्थ तक रुक नहीं जाता। गृहस्थ तो आत्मा के 'सर्वभूत-हिते रतः' के क्रमिक विकास में एक सीढ़ी मात्र है, एक मंजिल है, एक स्टेज है। जीवन का असली उद्देश्य तो आत्मा का ऐसा विकास है जिसमें वह अपने को ही नहीं, अपनी पत्नी को ही नहीं, अपने बाल बच्चों को ही नहीं, परन्तु प्राणी मात्र को अपना समझने लगता है। विश्वात्मा में अपने आत्मा को ओत-प्रोत कर देता है, घुला मिला देता है। 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' का अनुभव करने लगता है, दूसरों के आत्मा का प्रत्यक्ष करता है। ऐसे विकास का, ऐसे उदय का, सीमित, छोटा रूप गृहस्थ-आश्रम में दिखाई देता है। जहाँ वेद मन्त्र के अनुसार बारह व्यक्तियों के कुटुम्ब में माता—पिता अपनी आत्मा को बाहर तक फैला देते हैं। परन्तु यहीं पर रुक जाना यहीं ठहर जाना और आगे क़दम न रखना वैदिक आदर्श के विपरीत है। तभी गृहस्थ को एक आश्रम कहा गया है। आश्रम का अर्थ है एक मंजिल, एक स्टेज। गृहस्थ आत्मिक जीवन के विकास में एक सीढ़ी है, एक मंजिल है, एक स्टेज है और यात्री को इससे बहुत आगे चलना है। अभी तो माता पिता तथा १० सन्तानों में कुल १२ प्राणियों के परिवार में एकता की, ममता की, अहन्त्व की अनुभूति है। इस छोटे से ग्रुप में (एकत्वमनुपश्यतः) की भावना का उदय हुआ है। परन्तु जीवन का उद्देश्य प्राणिमात्र को एकता के सूत्र में पिरो देना है। तभी तो वैदिक

आदर्श के अनुसार 'गृही भूत्वा वनी भवेत्' गृहस्थ में आत्मा का जितना विकास हो सकता है उतना करके वानप्रस्थी हो जाय, यह कहा है। आज हम पैदा होते ही गृहस्थ की सोचने लगते हैं और जब तक चार कन्धों पर चढ़ कर 'राम नाम सत है' की गूंज में शमशान नहीं पहुंच जाते तब तक गृहस्थ के ही कीड़े बने रहते हैं। इससे ज्यादा गृहस्थाश्रम की दुर्गति नहीं हो सकती। वैदिक आदर्श के अनुसार गृहस्थ तो आत्मा के विकास के लिये एक खास हद तक, एक खास सीमा तक, एक खास स्टेज तक आवश्यक है। उसके बाद गृहस्थ में फंसे रहना आत्मा का सर्वनाश करना है। वानप्रस्थी गृहस्थ में से गुजर चुका है, उसने दूसरों को अपना समझने का पाठ २५ साल तक सीखा है, अब वह अपने बच्चों की तरह दूसरों के बच्चों को भी अपना समझने लगता है। वह जंगल में बैठ जाता है। उसके पास गांव के, शहर के बालक पढ़ने को आते हैं। वह सबको अपना समझ कर पढ़ाता है और सब में अपनी आत्मा को देखता है। सब में अपनापन अनुभव करता है इस अभ्यास के बाद संन्यास आश्रम है। संन्यास में वह सबको, प्राणी मात्र को अपना समझने लगता है। उसका लगाव किसी विशेष व्यक्ति से नहीं रहता। उसका लगाव सब से समान हो जाता है। जीवन का वैदिक आदर्श यही है। इसे आश्रम-व्यवस्था कहते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यास तक पहुंचते २ जहाँ पहले उसकी दृष्टि अपने तक सीमित थी वहाँ वह अपने से हट कर दूसरों तक फैलती जाती है। यहाँ तक कि चारों आश्रमों में से गुज़र कर खुदी मिट जाती है और खुदी ही बाकी रह जाती है। फ़रक इतना है कि पहले खुदी खुद तक महदूद थी और अब खुदी खुदा तक पहुंच जाती है। शायद इसी ऊंचे अनुभव को किसी दीवाने ने 'अहं ब्रह्मास्मि' के उद्गार से प्रकट किया था।

वेदों में इतिहास

सम्पादक

वेदों में इतिहास है वह प्रश्न कोई नया नहीं है। यह प्रश्न अति प्राचीन काल का है। यास्काचार्य के बनाये निरुक्त के पढ़ने से प्रतीत होता है, कि निरुक्तकार यास्काचार्य के समय में भी ऐसा सम्प्रदाय विद्यमान था जो कि वेदों में इतिहास की सत्ता मानता था। वृत्र का वेदों में बहुत वर्णन आता है निरुक्त, अध्याय २, खण्ड १६ में वृत्र के स्वरूप पर विचार करते हुए निरुक्तकार ने लिखा है, कि:-

तत्को वृत्रः १। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः।

इस लेखमें प्रथम प्रश्न किया गया कि 'वृत्र' कौन है? तत्पश्चात ऐतिहासिक सम्प्रदाय की ओर से इसका उत्तर दिया गया है कि वृत्र एक असुर है, जो कि 'त्वष्टा' का पुत्र है। इसी प्रकार निरुक्त, अध्याय १२, खण्ड २ में अश्वि-देवताओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए निरुक्तकार ने लिखा है कि:—

तत्कौ अश्विनौ।................। राजानौ पुण्यकृतौ इत्यैतिहासिकाः।

यहां भी पहिले प्रश्न किया है कि अश्वि-देवता कौन से हैं? ऐतिहासिक सम्प्रदाय की ओर से उत्तर दिया गया है कि अश्वि-देवता दो पुण्यात्मा राजा हुए हैं। निरुक्त में बहुत स्थानों पर ऐतिहासिक सम्प्रदाय की सत्ता का परिचय मिलता है। परन्तु दृष्टान्त रूप में यहां दो स्थानों का ही उद्धरण दिया गया है।

इन उद्धरणों से यह प्रतीत हो जायगा कि "वेदों

में इतिहास" का प्रश्न आज कल के अन्वेषक पाश्चात्य विद्वानों की कोई नई खोज नहीं है। प्राचीनकाल में कई भारतीय विद्वानों ने भी वेदों के सम्बन्ध में ऐसे विचार प्रगट किये थे। निरुक्तकार यास्क ईसा तथा पाणिनि मुनि से भी अति प्राचीन काल का है। और ऐतिहासिक सम्प्रदाय निरुक्तकार यास्क से भी प्राचीन है। क्योंकि निरुक्तकार स्थान २ पर इस ऐतिहासिक सम्प्रदाय के मतों का प्रदर्शन निरुक्त में करते हैं।

इस जबरदस्त ऐतिहासिक समुदाय के विरुद्ध निरुक्तकार यास्क ने आवाज़ उठाई थी। निरुक्त में स्थान २ पर हमें ऐतिहासिक सम्प्रदाय के विरोध में नैरुक्त-सम्प्रदाय खड़ा हुआ दीखता है। निरुक्तकार प्रायः मन्त्रार्थों में प्रथम ऐतिहासिक मत दर्शाते हैं, और तत्पश्चात् अपने या नैरुक्त सम्प्रदाय के अर्थ की भी व्याख्या करते हैं।

उपरोक्त दो उद्धरण जो कि निरुक्त के समय में भी ऐतिहासिक सम्प्रदाय की सत्ता के होने के सम्बन्ध में दिये गये हैं उन पर निरुक्तकार ने नैरुक्त सम्प्रदाय का मन्तव्य भी निरुक्त में दर्शाया है। "वृत्र" की व्याख्या करते समय निरुक्तकार कहते हैं—

"तत्को वृत्रः? । मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्ष कर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति"।

यास्काचार्य कहते हैं, कि निरुक्तकारों के मन में वृत्र मेघ, अर्थात् बादल है। यद्यपि ऐतिहासिक लोग यह कहते हैं, कि वृत्र एक असुर था जो कि त्वष्टा का पुत्र था। परन्तु उनका यह विचार ठीक नहीं है। वेदों में वृत्रासुर और इन्द्र के युद्ध का जो वर्णन आता है वह केवल एक प्राकृतिक घटना का ही वर्णन मात्र है। किसी वृत्रासुर और इन्द्र के वास्तविक युद्ध का वह वर्णन नहीं है। क्योंकि जल और ज्योति अर्थात् मेघीय वैद्युत-ज्योति के परस्पर मिश्रण होने पर ही वर्षा होती है। इस वर्षा-कर्म में मेघ ही वृत्र है। जिसकी कि ताड़ना मेघस्थ वैद्युत-अग्नि—जिसे कि इन्द्र कहते हैं, करता है। और इस प्रकार जलों को बहाता है। इस प्रकार मेघ और उस में की वैद्युत-अग्नि के प्राकृतिक दृश्य को ही उपमा रूप में युद्ध रूप से वर्णन वेदों में किया गया है, किसी वास्तविक युद्ध का नहीं।

वृत्रासुर और इन्द्र के स्वरूप और युद्ध के सम्बध में यास्काचार्य की और नैरुक्त सम्प्रदाय की सम्मति का परिचय अभी मैंने दिया है। अब मैं यह दर्शाना चाहता हूं कि वेद मन्त्रों में भी वृत्रासुर और इन्द्र के युद्ध के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है वा नहीं। ऋग्वेद ८।१।१५।२ वह मन्त्र इस प्रकार का प्रतीत होता है जो कि इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालता है। वह निम्न लिखित है।

यद्चरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रवाणो जनेषु। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहु र्नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से ॥

इसका अर्थ यह है, कि "हे इन्द्र! जो तू अपने फैले हुए स्वरूप से और अधिक बढ़ता हुआ विचरता है और जो तू सर्वसाधारण जनों के प्रति इस प्रकार अपने बलों का प्रदर्शन करता है, तथा तेरे नाना युद्धों का जो वर्णन किया जाता है, यह सब प्राकृतिक घटना मात्र है वास्तविक नहीं। क्योंकि न तेरा आज कोई शत्रु है और न पहिले कभी हुआ है, तो तूने युद्ध किसके साथ करना हुआ"।

इस प्रकार ऋग्वेद का यह मन्त्र भी स्पष्ट यह कहता हुआ प्रतीत होता है कि वेदों में वृत्रासुर और इन्द्र के युद्ध के ऐतिहासिक स्वरूप का गन्ध मात्र भी नहीं है। अब मैं निरूक्त के दूसरे उद्धरण पर आता हूँ। जोकि अश्वि—देवताओं के सम्बन्ध का है। निरुक्त के अध्याय १२, खण्ड २ में अश्वि—देवताओं पर विचार किया गया है। यहाँ "राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः" इस लेख द्वारा यास्काचार्य ने जहाँ ऐतिहासिकों का मत दर्शाया है कि ये अश्वि देवता प्राचीन समय के कोई पुण्यशील दो राजा थे, वहां साथ ही साथ यास्काचार्य ने इस सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के भी मत दर्शाए हैं। यथाः—

"द्यावापृथिव्यावित्येके। अहोरात्रावित्येके। सूर्याचन्द्रमसावित्येके"।

अर्थात् कई कहते हैं, कि द्युलोक और पृथिवी लोक ये दो अश्वी हैं। कई कहते हैं कि दिन और रात ये दो अश्वी हैं। कई कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा ये दो अश्वी हैं।

इस प्रकार ऐतिहासिक सम्प्रदाय से भिन्न अन्य आचार्य्यों के मत दर्शा कर आगे निरुक्तकार अपना मत दर्शाते हैं। वह मत भी ऐतिहासिक सम्प्रदाय के नितान्त विपरीत है, और अनैतिहासिक स्वरूप का है।

इस प्रकार इस छोटे से लेख से मैंने यह दर्शाने का यत्न किया है कि वेदों में इतिहास है यह विचार भी भारतीय विचार है और बहुत प्राचीन काल का है और इस विचार का खण्डन भी प्राचीन भारतीय आचार्य्यों ने समय समय पर किया है। ऐतिहासिक मत का वर्त्तमान में पुनरुज्जीवन पाश्चात्य विद्वानों के कारण हुआ है। वर्त्तमान समय में कई भारतीय विद्वान् भी इस विचार के पोषक हैं। परन्तु इन ऐतिहासिक विचारों को सुन कर हमें घबराना नहीं चाहिये। वेदों के अनैतिहासिक स्वरूप के मानने वाले अर्थात् इन्हें नित्य और अनादि मानने वाले बड़े २ धुरन्धर आचार्य भारत में हो चुके हैं। उनके लेख भी इस सम्बन्ध में पर्य्याप्त खोजपूर्ण और गम्भीर हैं। वैदिक-विज्ञान के पाठकों के सन्मुख समय समय पर इस सम्बन्ध में लेख प्रकाशित होते रहेंगे और वेदों को नित्य अनादि मानने वाले प्राचीन भारतीय विद्वानों के लेखों के अनुवाद भी इस पत्र में प्रकाशित किये जाया करेंगे।

ऋषि दयानन्द की भाष्यशैली

[लेखक—श्री पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति]

वेदों के ऊपर समय समय पर विद्वानों ने कलम उठाई है, ब्राह्मणग्रन्थ-रचयिता ऋषियों के बाद पौराणिक काल में, आचार्य उवट, महीधर तथा सायण आदि ने वेदों पर भाष्य किये हैं। इसी प्रकार आधुनिक युग में मेक्समूलर, विटनी, ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य लेखकों ने भी दैदिक साहित्य पर बहुत कुछ लिखा है, परन्तु इन विद्वानों के ग्रन्थों में वेदों की आत्मा का विकास नहीं हुआ है। पौराणिक कालीन भाष्यकार तो याज्ञिकवाद, देवतावाद, ऐतिहासिकवाद आदि वादों की बाधाओं में जकड़ गये हैं। वे अपने समय की रूढ़ियों से ऊपर नहीं उठ सके हैं। उन्होंने पूर्व परिग्रह से रंगी ऐनकों से—वेद को देखा है। यही हालत पाश्चात्य लेखकों की भी है। एक तो इनके भाष्य अक्षरशः अनुवाद मात्र हैं, फिर ये अनुवाद लौकिक तथा वैदिक संस्कृत में भेद करते प्रतीत नहीं होते। इस पर मजे की बात यह है कि ये सायणाचार्य के ही पद चिन्ह पर चलते हैं और विकासवाद (अशुद्ध अर्थों में) की रट लगा २ कर वेदों के असली तात्पर्य से दूर हो गये हैं। इसलिये वैदिक साहित्य को समझने के लिये इनके लेख प्रामाणिक नहीं माने जा सकते।

ब्राह्मणकार, पौराणिक भाष्यकार और पाश्चात्य भाष्यकारों के अतिरिक्त आधुनिक समय में वेद के ऊपर युग परिवर्तनकारी कलम उठाने वालों में सब से प्रमुख नाम महर्षि दयानन्द का है। महर्षि के भाष्यों से वेद जीवित और जागृत प्रतीत होने लगते हैं। महर्षि के भाष्य का एक एक मन्त्र पूर्व के भाष्यकारों की त्रुटियों का क्रियात्मक समाधान कर रहा है। इसलिये वेद के सच्चे स्वरूप को जानने में ऋषि दयानन्द के भाष्य और उनकी भाष्यशैली को समझना आवश्यक है। इस लेख में हम ऋषि की भाष्यशैली पर एक दो विचार प्रकट करने का प्रयत्न करेंगे। महर्षि

की भाष्यशैली के अध्ययन से निम्न तीन परिणामों पर पहुंचते हैं।

(क) पहिले २ शब्द का प्रकृति और प्रत्यय के आधार पर मूल अर्थ जानकर—

(ख) फिर वेद में आये विशेषणों और प्रकरण के आधार पर उसका अर्थ निर्धारित करके—

(ग) वैदिक साहित्य के आधार पर उसका निश्चित रूढ़ व योगरूढ़ अर्थ जानकर मन्त्र की व्याख्या ऋषि दयानन्द करते हैं।

दूसरे शब्दों में कहा जाय तो ऋषि की भाष्यशैली की प्रथम विशेषता यह है:—

(१) कि वे वैदिक शब्दों को यौगिक मानकर भाष्य करते हैं। वैदिक शब्द अपने वाच्य अर्थ की योगवृत्ति (प्रकृति, प्रत्यय, विवेचन) से बताते हैं। अतः इनको यौगिक मानने पर ही उनका वास्तविक अर्थ जाना जा सकता है। लौकिक दृष्टि में तो कमजोर को बलदेव, क्रोधी को सोमकीर्ति और अन्धे को नैनसुख कहा जा सकता है परन्तु वैदिक दृष्टि में कमल को तबतक पंकज नहीं कहा जा सकता है, जबतक (पंक + ज) कि वह कीचड़ से पैदा न हुआ हो। वैदिक दृष्टि में शब्द अपने वाच्य अर्थ को प्रकृति तथा प्रत्यय के आधार पर बताते हैं। इसलिये वैदिक शब्द यौगिक ही हैं। स्वामीजी महाराज की वैदिक शब्दों को यौगिक समझने की शैली में यास्क[1] पतंजलि[2] मुनि तथा अनेक ब्राह्मण[3] ग्रन्थकारों की भी अनुमति है।

(२) वैदिक शब्दों के यौगिक मान लेने पर एक प्रश्न हो सकता है कि इस तरह से एक शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं और शब्द का कोई भी निश्चित अर्थ नहीं रहता है। स्वामीजी की भाष्य शैली की दूसरी विशेषता से इसका समाधान किया जा सकता है, वह यह है कि हमें केवल प्रकृति तथा प्रत्यय लभ्य अर्थ से ही सन्तुष्ट न रहना चाहिये। अपितु प्रकरण तथा विशेषणों[1] का ध्यान भी करना चाहिये। किसी विशेष पदार्थ या देवता का निर्णय यौगिक वृत्ति से कर लेना ही उचित नहीं और रूढ़ि अर्थों को मान लेना उचित है, परन्तु विशेषणों के आधार पर, विशेष्य या देवता का स्वयं निर्णय करना चाहिये। साथ ही आगे पीछे के प्रकरण का भी ध्यान रखना चाहिये। निस्सन्देह इस शैली से किसी भी काव्य के अर्थ किये जा सकते हैं, और किये जाने चाहियें।

प्रकरण[2] के आधार पर अर्थ करने का क्या तात्पर्य है ? इसके लिये एक उदाहरण लीजिये:—मैं भोजन कर रहा हूँ, बीच में मुझे नमक की आवश्यकता पड़ती है, मैं अपने सहायक (Helper) से संस्कृत भाषा में कहता हूँ कि "सैन्धव मानय"। यदि वह उस समय घोड़े को ले आवे तो मैं समझूंगा कि वह शब्द के अर्थ को तो जानता है, परन्तु पूर्ण रूप में नहीं—उसको मैं बुद्धिमान् नहीं कह सकता हूँ।

---

१ देखो निरूक्त १-१२

२ देखो अष्टाध्यायी ३-३-१ सूत्र पर कारिकायें

३ "शतपथ ब्राह्मण १४-८-४-१ ऐ० का० ६.५. ब्राह्मण व्याख्या करते हुए स्वतः शब्द की यौगिक व्याख्या करते हैं

१ देखो परम लघु मंजूसा शब्द शक्ति-विचार प्रकरण १४ पृष्ठ पर तद् उक्तम् हरिणा—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।
सैन्धवमानये त्यादौ प्रकरणेन तत्।

देखो साहित्य-दर्पण द्वितीय परिच्छेद व्यंजना—प्रकरण में यही है—

प्रकरण का उदाहरण "सर्वं जानाति देवः" इति देवो भवान् (वक्ता तथा श्रोताकी बुद्धिस्थता प्रकरण)

२ उदाहरणार्थ देखिये ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के भाष्यकरण शंकासमाधानादि विषय प्रकरण को "तेनात्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्यो अग्निः शब्द इन्द्रादीनां विशेषणानाम्। इत्यादि।

समय सूचक तथा प्रकरणवित् नहीं कह सकता हूँ। उसके उपयुक्त व्यवहार से जहाँ पर मेरा काम भी नहीं सरता है वहाँ पर वह बेवकूफ भी साबित होता है। इसीलिये प्रकरण के अनुसार नमक लाना उचित कहा जा सकता है। (सैन्धव शब्द का अर्थ नमक भी होता है) जो सहायक उस समय मुझे नमक दे देता है उसको मैं समझदार कहता हूँ। ठीक इसी प्रकार वेद के अर्थ करने में भी हमें प्रकरण-वित् होना चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि "विशेषणों के आधार पर विशेष्य का निर्णय करना चाहिये। नकि इसके विपरीत विशेष्य को निर्णीत समझ कर जैसे तैसे भी विशेषणों को विशेष्य के साथ संगति लगाना। इसको स्पष्ट करने के लिये पूर्वोक्त उदाहरण ही लीजिये। मैं अपने सहायक से "बलवन्तं नीलं सैन्धवमानय" कहता हूँ, यदि वह सैन्धव शब्द का केवल नमक ही अर्थ जानता हो, या घोड़ा अर्थ जानते हुए भी "सैन्धव' शब्द का नमक अर्थ लेने पर ही तुला हुआ हो तो वह "बलवन्तं" तथा "नीलं" इन दोनों विशेषणों की उपेक्षा कर जायगा। या किसी न किसी तरह नमक (सैन्धव) के साथ "बलवान्" तथा "नील" होने के विशेषणों को घटाने का द्रविड़ प्राणायाम करेगा। इसके विपरीत बुद्धिमान् सहायक सैन्धव शब्द के अर्थ का निर्णय "बलवन्तं" और "नीलं" इन विशेषणों से ही कर लेगा। वह सोचेगा कि नमक न तो बलवान् ही होता है, और न नीला, इसलिये सैन्धव का विशेषणों के बल पर घोड़ा ही अर्थ होना चाहिये। बस वह यह समझ कर झट नीला घोड़ा ले आवेगा। इस उदाहरण में जैसे पहिले प्रकार का सहायक बेसमझ है और दूसरा समझदार। ठीक इसी प्रकार वेद के अर्थ निर्णय में भी जो कि विशेषण के आधार पर विशेष्य के अर्थ भी निर्णीत करता है, वह बुद्धिमान् कहा जा सकता है। इसी प्रकार और भी "हरि"[1] "कर"[1] तथा "अग्नि"[2] "इन्द्र" "वायु" (वैदिक देवता) आदि नानार्थक शब्द लिये जा सकते हैं। उनके अर्थ व निर्णय उपरोक्त विधि से ही करने चाहियें। महर्षि भाष्य की एक एक पंक्ति में यह बात स्पष्टतया प्रतीत होती है। अब तीसरी प्रक्रिया की तरफ आइये।

३ हमें प्रकरण तथा विशेषणों के आधार पर शब्द के अर्थ निश्चय में सहायता लेनी चाहिये, परन्तु तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि हम उस अर्थ के विषय में निश्चित हैं, जबतक कि उसमें प्रथा या रूढ़ि का प्रबल साक्षी न हो। उस प्रणाली को Direct Method (प्रत्यक्ष प्रणाली) कहते हैं। आजकल के पाश्चात्य विद्वान इस पद्धति के ही हामी हैं। महर्षि की भाष्य शैली में भी इस पद्धति को बहुत महत्व दिया गया है। यह भलीभांति समझा जा सकता है, कि किसी दुरूह ग्रन्थ के अर्थ बोध में यदि उसी ग्रन्थ की अन्तः साक्षियां मिल सकती हों तो उसका स्थान सबसे बढ़ कर होना चाहिये। वैदिक साहित्य में ऐसी अन्तः साक्षियां बहुत हैं। 'अश्व' शब्द का अर्थ लौकिक दृष्टि से यदि देखें तो केवल घोड़ा ही होना चाहिये, परन्तु वैदिक साहित्य में अश्व शब्द वीर्य, इन्द्रिय, सूर्यादि अर्थोंमें भी आया है। यह केवल यौगिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु इसमें वैदिक साहित्य की रूढ़ि ही प्रमाण स्वरूप है। वेद की व्याख्या के लिए वैदिक साहित्य में से एक ऐसे कोश Vedic technical dictionary का भी निर्णय किया जा सकता है

१ यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहि कपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु॥

१ कर = हाथ किरण तथा Tax भागधेयः करो बलिः—अमरकोश

२ अग्नि = पुरोहित, भौतिक आग, परमात्मा, विद्युत् आदि

(i) अग्निमीळे पुरोहितम् ऋ-१-१-१ यह अग्नि पुरोहित है।

(ii) 'तदेवाग्निस्तदादित्यः तद्ब्रह्म'। यजु० ३-२-१ यह अग्नि स्पष्ट ही परमात्मा वाचक है।

(iii) 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'। यजु० २-३-१० यहां भौतिक आग ही स्पष्ट है।

जिससे कि हम वेद के अर्थों के बारे में पूर्ण निश्चिन्त हो सकते हैं।

अब विस्तार में न जा कर महर्षि के भाष्य से ही एक दो उदाहरण देते हैं जिससे कि यह स्पष्ट होता है कि महर्षि उपर्युक्त (Direct method) की पद्धति को महत्व देते थे।

१ ऋषि दयानन्द अपनी पुस्तक ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" में पदार्थ में सहायभूत अनेक उपायों की तरफ निर्देश करते हुए इस उपाय की तरफ़ भी निर्देश करते हैं। वे लिखते हैं—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तारिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।

विश्वेदेवा अदितिः। ऋग्वेद १।८९।१०।

अस्मिन्मंत्रेऽदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन गृहीष्यन्ते।

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि स्वामीजी वेद के अन्तः साक्षी के आधार पर अदिति शब्द के अर्थ द्यौ, अन्तरिक्ष, माता इत्यादि मानते हैं।

२–महर्षि कृत ऋग्वेद भाष्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि अग्नि आदि शब्दों के अर्थ करते हुए उन्होंने उपर्युक्त पद्धति का ही आश्रय लिया है। उदाहरण के लिए अग्नि शब्द लीजिए—महर्षि इन शब्द के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों प्रकार के ही अर्थ करते हैं—

अ—आध्यात्मिक अर्थ—अग्नि = परमात्मा

ऋषि दयानन्द ऋ०—१-१-१ "अग्निमीले पुरोहितम्" इस मंत्र के भाष्य में "अग्निं-परमेश्वरं भौतिकं वा" लिखते हुए अग्नि का अर्थ परमात्मा तथा सामान्य आग करते हैं। इस बात की पुष्टि में वे अपने भाष्य में ही निम्न प्रमाण देते हैं:—

१—वेद मन्त्र प्रमाण

(क) "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः"

(ख) तदेवाग्निस्तदादित्यः····तच्छुक्रं तद्ब्रह्म"

स्वामी दयानन्द ने इन दो प्रमाणों से अग्नि का अर्थ परमात्मा किया है।

यत्सच्चिदानन्दादि लक्षणंब्रह्म तदेवात्राग्न्यादि नाम वाच्यमिति बोध्यम्।

२—ब्राह्मण ग्रन्थ प्रमाणः—

(क) "ब्रह्म ह्यग्निः" श० प० १।४।५।११

(ख) "आत्मा वाग्निः" श० का० १।२।३।५

(ग) अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च। श० प० ९।१।२।४३

(अत्र प्रजा शब्देन भौतिकः, प्रजापति शब्देनेश्वरश्चाग्निग्राह्यः)

(घ) अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः एतद् वै देवाः व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। श० १।१।२।५।

(सत्याचार नियमपालनं व्रतं तत्पतिरीश्वरः)

इन प्रमाणों के आधार पर स्वामी दयानन्द ने अग्नि का आध्यात्मिक अर्थ किया है।

इसी प्रकार निरुक्त के आधार पर भी अग्नि का अर्थ भाष्य में ईश्वर ही किया गया है। यहीं तक नहीं बल्कि "इळे अग्निं विपश्चितं" ऋ० ३-२७-२ मंत्र के विपश्चित् विशेषण के आधार पर भी अग्नि का अर्थ परमात्मा बताया है। तथा—

'एतमेते वदन्त्यग्निं ब्रह्म शाश्वतम्'।

मनु १२।१२३

प्रमाण से भी अग्नि का आध्यात्मिक अर्थ किया है।

(ब) आधिदैविक अर्थ में अग्नि = आग या विद्युत्।

महर्षि ने ऋ०—१।१६४।४६ मंत्र के भाष्य में "अग्निं परमात्मस्वरूपं–विद्युदादि लक्षणं वा" लिखते हुए अग्नि का विद्युत् अर्थ भी दिया है।

इसी प्रकार ऋ० ६-६०-१ में इन्द्राग्नी वायुविद्युतौ लिखा है वे अपने भाष्य में इन अर्थों के लिए निम्न प्रमाण देते हैं—

१ वेद मन्त्रः (क) ऋ० १।१।१ के भाष्य में "वृषोऽग्निःसमिध्यते अश्वो न देववाहनः तं हविष्मन्तं ईळते" ऋ० २।२७।१४।

इस वेद मंत्र में जलाया जाने वाला भौतिक अग्नि लिया गया है।

२—ब्राह्मण प्रमाणः—

(क) यदश्वं तं पुरस्तादुदनयंस्तस्या भयेऽनाष्ट्रेऽनिवातेऽग्निरजायत तस्माद्यथाग्निं मन्थिष्यन्त्स्यात् तदश्वमानेत वै ब्रूयात्। श० प० २३-१-१६

(ख) वृषोऽग्निः अश्वोहवा एषभूत्वा देवेभ्यो महां वहति। श० प० १-३-३-२९

ऋषि ने अग्नि का अर्थ विद्युत् भी किया है इसमें उन्होंने प्रमाण देना उचित नहीं समझा है। नि० ७-१७

सन मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते तत्वोनु मध्यमः (विद्युत्) अभिप्रवन्तं समनेवयोषा ऋ० ४. ५८. मंत्र में जल धाराओं से विद्युत् की उत्पत्ति का स्पष्ट वर्णन है।

(स) आधिभौतिक अर्थ में अग्नि = ब्राह्मण उपदेशक महर्षि दयानन्द ने ऋ० ७-१६-१ तथा यजु० १३-३० में "अग्निं उपदेशकं विद्वांसम्" लिखते हुए अग्नि का आधिभौतिक अर्थ उपदेशक किया है। प्रमाणः—इस बात की पुष्टि में यद्यपि महर्षि ने अपने भाष्य में प्रमाण नहीं दिया है। तो भी यह बात वेद की साक्षी से प्रमाणित की जा सकती है इसके लिए देखिएः—

१ अथर्व १-७-१ तथा २ सूक्त 'स्तुवानं मग्ने आवह माहुधान किमीदिनम्' तथा 'अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधान' इत्यादि मन्त्रों का वर्णन स्पष्ट बताता है, कि अग्नि यहां भौतिक अग्नि नहीं ली जा सकती है। यहां पर ब्रह्म कुमार उपदेशक ही अग्नि है।

(द) अग्नि पुरोहित।

महर्षि ने यजुर्वेद १७-५२ में अग्नि का अर्थ विद्वान् पुरोहित किया है इसमें निम्न मन्त्र प्रमाण रूप से पेश किया जा सकता है।

अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देव मृत्विजम्

(य) अग्नि = सूर्य (अधिदैविक अर्थ में)

ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद १-१४२. ४ मन्त्र की व्याख्या में 'अग्ने···सूर्य इति प्रकाशात्मन्' लिखा है। इसी प्रकार ऋ० २-१-६ में 'सूर्यवत्सर्वार्थ प्रकाशकम्' लिखते हुए भी अग्नि का अर्थ सूर्य दिया है, इसमें हम निम्न प्रमाण पेश करते हैं।

प्रमाण—मन्त्र प्रमाण

ऋग्वेद ३-५८-१ 'समुद्रादूर्मिमधुमाँ उदारत्' इत्यादि मन्त्र का अग्नि देवता है। और मन्त्र सूर्य का वर्णन कर रहा है। इसीलिये निरुक्त ७-१७ में इसी मन्त्रपर लिखा है। 'इत्यादित्यमुक्तं मन्यन्ते जो समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति इति च ब्राह्म' लिख कर निरुक्तकार भी इसी अर्थ को पुष्ट करते हैं। 'असावादित्य एकोऽग्निः श० ३।४।१।१ तै० १।१।६।२

(२) अग्नि = जीव।

महर्षि ने यजुर्वेद १२-३७ के भाष्य में अग्नि शब्द का अर्थ जीव लिखा है, इसमें ब्राह्मण ग्रन्थ के निम्न प्रमाण पेश किये जा सकते हैं।

(क) आत्मैवाग्नि···श० प० कां० ६।७।१।२०

(ख) आत्मा वाग्नि···श० प० ७।३।१।२।

वे एक ही शब्द के भिन्न २ अर्थ करते हैं और उसमें वेद की सहायता से ब्राह्मण तथा अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों की सहायता लेते हैं। इस प्रकार के अन्य अनेक प्रमाण पेश किये जा सकते हैं और बताया जा सकता है कि महर्षि दयानन्द वैदिक साहित्य के रूढि की उपेक्षा न करते थे, वे Direct Method को उचित समझते थे, इसलिये जहां उन्होंने शब्दों के यौगिक अर्थ किये हैं वहां पर किसी भी प्रकार उनकी सुन्दरता को तथा निश्चितता को नहीं बिगड़ने दिया है।

प्रकरण तथा विशेषणों की संगति ने उनके भाष्य को नाना मणियोंवाला अगाध उदधि बना दिया है। महर्षि की उपर्युक्त विशेषताओं के परिणाम भूत अन्य अनेक विशेषतायें। भाष्य में देखी जासकती हैं। इन विशेषताओं को ध्यान में रखने पर अन्य भाष्यकारों की त्रुटियों से सहज में बच सकते हैं। इस लेख में उनका संक्षेप से निर्देश करना ही उचित समझते हैं।

(१) पौराणिक भाष्यकारों के समान इनके भाष्य में याज्ञिक ऐतिहासिक तथा देवतावादी भावों के स्थान पर आध्यात्मिक वैज्ञानिक राजनैतिक तथा सामाजिक विचारों की झलक दीखने लग पड़ती है।

(क) पौराणिक कालीन भाष्यकारों के समान इनके भाष्यों में याज्ञिक समुदाय की ही झलक नहीं होती, बल्कि इसके ग्रन्थ आध्यात्मिक, आधिभौतिक आदि विचारों के स्रोत नज़र आते हैं। वेद में राजनीति शास्त्र, आयुर्विज्ञान आदि अनेक विद्यायें झलकने लग पड़ती है। और मन्त्रों में जीवन और जागृति प्रतीत होती है। स्वामी दयानन्द ने याज्ञिक अर्थों की अवगणना न करते हुए भी उनके उदात्त स्वरूप को दिखाया है।

(२) इसी प्रकार महर्षि की भाष्यशैली से पौराणिक तथा पाश्चात्य भाष्यकारों के अनित्य और वैयक्तिक इतिहास विषयक विचारों का भी सुन्दर समाधान हो जाता है। ऐतिहासिक नाम नित्य के ऐतिहासिक व्यक्ति होकर उपदेश करने लगते हैं, वेद ऐतिहासिक कोटि से ऊपर उठकर सार्वकालिक तथा सार्वजनिक विचारों का आदि स्रोत हो गया है।

(३) महर्षि की भाष्यशैली के परिणामभूत देवता विषयक संपूर्ण भ्रम दूर होजाते हैं और वेद के देवता हमारे सामने अपने शुद्ध रूप में प्रकाशित होते हैं। देवता विषयक विचारों को हम निम्न रूप में देख सकते हैं:—(Polytheism)

(क) वह देवतावाद निराकरण-ऋषि की दृष्टि में अग्नि, इन्द्र आदि भिन्न २ अनेक देवता नहीं है बल्कि इनके वर्णन में प्रकरण तथा विशेषण के अनुसार स्तुति, प्रार्थना, सर्वज्ञता आदि भावों को देखकर महर्षि ने एक ही परमात्मा के भिन्न २ नाम बताये हैं। साथ ही इन देवताओं की आधिभौतिक तथा आधिदैविक सत्ता को भी महर्षि ने प्रमाणित किया है। क्योंकि ऋषि की सम्मति में अग्नि, इन्द्र आदि देवता क्रमशः ज्ञान, प्रकाश तथा शूरता, वीरता आदि तत्-तत् शब्दवाच्य गुण विशेष के समूह के सूचक हैं इसलिये प्रकरण तथा विशेषणों के आधार पर ये गुण जिस किसी भी सत्ता में पाये जाते हों वे अग्नि, इन्द्रादि नामों से कहे जा सकते है।

(२) समकक्षवाद निराकरण (Henotheism) यह वाद अनेक देवतावाद तथा एकेश्वरवाद के मध्य का विचार है कि (Polytheism) में देवता तो अनेक हैं पर ऊंचीनीची कक्षा के हैं लेकिन Henotheism में सब देवों की कक्षा एक है। सबका सर्वत्र एकसा प्रभाव है। इसलिये समकक्षवाद के सिद्धान्त के अनुसार अग्नि, इन्द्र, वायु आदि अनेक सर्वव्यापक देव हो जाते हैं जो कि अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है। इस बात का निरास भी महर्षि की शैली से हो जाता है क्योंकि इन्द्र, रुद्र आदि भिन्न २ संज्ञायें नहीं हैं, बल्कि भिन्न २ गुणों को बताने वाले ये नाम एक ही परमात्म देव के हैं।

इस प्रकार महर्षि की भाष्यशैली याज्ञिकवाद देवतावाद, ऐतहासिक आदि २ जंजीरों से वेद को मुक्त करती है और वैदिक पवित्र गंगा में जिज्ञासुओं को स्नान कराती है। अतः स्वामी दयानन्द की शैली आर्ष शैली है, अनुकरणीय है। महर्षि की इस सरणि पर ही चलते हुये अरविन्दघोष ने वैदिक देवताओं को मनोवैज्ञानिक रूप में समझा। परम शिव ऐय्यर ने देवताओं की Geological व्याख्या की और आधुनिक समय में डा० रेले ने "Vedic God" नामक पुस्तक में Biological व्याख्या करने का सराहनीय प्रयत्न किया है।

इस प्रकार निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि महर्षि की भाषाशैली ने, देवताओं के वास्तविक

स्वरूप पर प्रकाश डाल कर वेद को ऋषियों की आँखो से देखने का साधन हमारे सामने पेश किया है।

उपर्युक्त विशेषताओं के सिवाय अन्य अनेक विशेषतायें भाष्य में स्थान २ पर बिखरी पड़ी हैं। भाष्य का एक २ मन्त्र इस आर्षशैली को पुकार २ कर कह रहा है।

वायुरथ

(लेखक—सम्पादक)

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३७ वें सूक्त के पहिले मन्त्र में वायुरथ का वर्णन है। वायुरथ से अभिप्राय उस रथ का है जोकि वायु के बल से चलाया जा सके। आज कल की मोटरों को हम वायुरथ कह सकते हैं। ऐसे वायुरथ का वर्णन करने वाला मन्त्र निम्न लिखित है—

क्रीडं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथे शुभम्।
कण्वा अभि प्रगायत॥

इस मन्त्र की व्याख्या करने से पूर्व इसका अर्थ दर्शा देना उचित होगा। इसका अर्थ निम्न लिखित है—

("कण्वाः) हे मेधावी लोगो! तुम (मारुतं शर्धः) मरुत् अर्थात् वायु सम्बन्धी बल के गुणों धर्म्मों का (अभि प्रगायत) वर्णन करो, गान करो। (अनर्वाणम्) जिस वायु सम्बन्धी बल के होने पर घोड़े की आवश्यकता नहीं रहती, (क्रीडम्) जिस बल का प्रयोग कई प्रकार की क्रीड़ाओं के निमित्त किया जा सकता है। (रथे शुभम्) तथा जो वायु सम्बन्धी बल रथों में लगा कर शोभा देने वाला होता है।

१ इस मन्त्र में परमात्मा कण्वों के प्रति उपदेश देता है कि हे कण्वो! तुम वायु सम्बन्धी बल का गुण गान करो, स्तुति करो, तथा लोगों के प्रति उसका कथन करो। भाष्यकारों ने इस मन्त्र में कण्व का अर्थ किया है 'कण्व गोत्र में उत्पन्न महर्षि।" परन्तु उनका किया यह अर्थ अशुद्ध प्रतीत होता है। कारण यह है कि वैदिक पदों के अर्थ वैदिक कोष के अनुसार होने चाहियें, नकि लौकिक संस्कृत के कोषों के अनुसार। निघण्टु में (जो कि वैदिक कोष है) कण्व शब्द का अर्थ दिया गया है, "मेधावी[1] पुरुष, "नकि "कण्व ऋषि"। निघण्टु का अर्थ मन्त्र के अभिप्राय के अनकूल भी है। क्योंकि मेधावी लोग ही वायुरथ के गुणों का वर्णन कर सकते हैं। अनपढ़ तथा नासमझ नहीं।

२ इस मन्त्र में मेधावी लोगों को वायु सम्बन्धी बल के गुण वर्णन करने का उपदेश दिया गया है, वायु सम्बन्धी बल को इस मन्त्र में "मारुतं शर्धः" वायु "मारुत" का अर्थ होता है "मरुत सम्बन्धी या वायु सम्बन्धी" तथा "शर्ध" का अर्थ होता है बल[2]। रथों में "मारुतं शर्ध" के प्रयोग करने का उपदेश मन्त्रों में दिया है। बल का विशेषण और कोई न रख कर जो "मारुत" शब्द विशेषण के रूप में रखा गया है, इसका एक विशेष गहरा अभिप्राय है। "मरुत्" शब्द का अर्थ वायु होता है, परन्तु "मरुत" शब्द को "मा + रुत्" इस प्रकार भी दो शब्दों में विभक्त किया जा सकता है। इस प्रकार "मा + रुत्" का अर्थ होगा "शोर का न होना, आवाज़ का न होना। हम आज कल की मोटरों में देखते हैं कि वे चलते समय बहुत शोर करती हैं। शोर कान को सदा बुरा लगता है। पढ़ने लिखने तथा विचार करने वाले के कामों में चलती हुई मोटरों के शोर बाधा डालते हैं। ऊपर के मन्त्र के रथों में जिस वायु का प्रयोग करना लिखा है, उसे "मरुत्" कहा है। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है, कि मन्त्र में ऐसे रथों

(१) निघण्टु, ३। १५॥ (२) निघण्टु २। ९॥

में ऐसे यन्त्रों को स्थापित करने की ओर निर्देश दिया है, जिससे कि रथ को चलाते समय उसमें शोर न हो, आवाज़ न हो।

३—कोई ऐसा न समझ ले कि यह रथ जिसका कि इस मन्त्र में वर्णन आया है—घोड़े आदि द्वारा चलने वाला है। इस आशंका को दूर करने के लिये ही मन्त्रों में "अनर्वाणम्" शब्द रखागया है। "अर्वा" का अर्थ होता है, "घोड़ा" और "अनर्वा" शब्द अर्वा अर्थात् घोड़े का निषेध कर रहा है। मन्त्र में "अनर्वाणम्" शब्द "शर्ध" अर्थात् बल के विशेषण रूप में पढ़ा गया है। इसलिये "अनर्वाणम्" शब्द का अर्थ होगा "वह बल जोकि अश्व सम्बन्धी नहीं है," घोड़े का नहीं है। ऐसे बल को रथ में युक्त करना चाहिये। अब "मारुतं शर्ध" और "अनर्वाणम्" इन दोनों शब्दों के अर्थों पर युगपत् विचार करने से अर्थ यह होगा कि "रथों में प्रयुक्त किया गया बल ऐसा होना चाहिये जो कि घोड़े का न हो, अपितु वायु का हो, तथा जो वायु प्रयुक्त किया गया शोर गुल का कारण न बने।

मन्त्र में यद्यपि "अनर्वा" अर्थात् घोड़े के बल के प्रयोग का निषेध किया गया है, तो भी "अनर्वा" पद घोड़े के बल का निषेध करता हुआ अन्य पशुओं के भी बलों के प्रयोग का निषेध करता हुआ प्रतीत होता है। पशु-बल एक तो उतना कार्य कर ही नहीं सकता जितना कार्य कि वायु का बल कर सकता है, साथ ही पशुबल के प्रयोग से कई वार पशुओं पर अत्याचार भी करना पड़ता है, तथा कार्य की शीघ्रता भी पशुबल से उतनी नहीं हो सकती जिननी शीघ्रता कि वायु के बल से हो सकती है। इन कारणों से इस मन्त्र में रथों में पशुबल के प्रयोग का निषेध किया गया प्रतीत होता है।

४—मन्त्र में "क्रीड़म्" पद भी पढ़ा गया है। यह भी "मारुतं शर्धः" का विशेषण है। इसलिये "क्रीड़म्" "मारुतं शर्धः" का मिला हुआ अर्थ होगा कि न शब्द करनेवाला वायु का बल जो कि क्रीड़ा अर्थात् विहार या भ्रमण आदि के काम में आए। प्रातःकाल तथा सायंकाल शुद्ध वायु में विहार करने के निमित्त जिन वायुरथों का प्रयोग किया जाता है उन रथों की ओर मन्त्र में का "क्रीड़म्" पद निर्देश कर रहा है।

५—मन्त्र में का "रथे शुभम्" पद और शेष है, जिससे भाव पर अभी तक प्रकाश नहीं पड़ा। यह पद भी "मारुतं शर्धः" का विशेषण है। इसका अर्थ यह है कि वायु का बल, जोकि शोर नहीं करता, विहारोपयोगी रथों में शोभा को प्राप्त होता है। वास्तव में यह बात है भी ठीक। विहार करते समय परमात्मा के ले प्राकृतिक-रचना-सौन्दर्य का भी आनन्द यदि साथ साथ उठाया जा सके और पारस्परिक बातचीत का आनन्द भी यदि साथ ही साथ लूटा जा सके तब उस विहार में या भ्रमण में एक दिव्य अनुभूति होने लगती है। इस निमित्त ऐसे रथ ही उचित प्रतीति होते हैं जिनके चलने में शोर गुल न हो, इस भाव को समझने के निमित्त मन्त्र के "क्रीड़म्" तथा "मारुतं शर्धः" उन पदों के अर्थों पर साथ २ विचार करना चाहिये।

इस प्रकार इस मन्त्र में ऐसे रथ के निर्माण करने का वर्णन प्रतीत होता है जोकि—

(क) वायु के बल से चलता हो।

(ख) जिसके चलने में शोरगुल न होता हो।

(ग) जिसके चलने में अश्वादि पशुओं के बल का प्रयोग न किया गया हो।

(घ) तथा जिस रथ का प्रयोग क्रीड़ा, विहार तथा भ्रमण के निमित्त किया जाय।

पाठक उपरोक्त वर्णन को पढ़कर जान सकेंगे कि यह रथ आजकल के मोटर-रथ से श्रेष्ठ है। क्योंकि इस रथ के चलने में शोर नहीं होता। यही इस रथ की विशेषता है।

यज्ञ-विज्ञान

(ले० श्री पं० देवराज जी, वेदवाचस्पति)

इस विश्व में तीन प्रकार की सृष्टि है, एक आधिदैविक, दूसरी आध्यात्मिक और तीसरी आधिभौतिक सृष्टि, शरीर वा शरीरस्थ आत्मा आदि पदार्थों की योजना आध्यात्मिक सृष्टि है। मनुष्यों का पारस्परिक संगठन होकर जो रचना होती है,, वह आधिभौतिक सृष्टि है। इसके अतिरिक्त पृथिवी, सूर्य्यादि पिण्डों के पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न रचना का नाम आधिदैविक है। आधिदैविक पदार्थों के अंशों को लेकर आध्यात्मिक संगठन होता है। और इस संगठन से उत्पन्न व्यक्तियों से मिलकर आधिभौतिक रचना उत्पन्न होती है। इस प्रकार आधिदैविक आध्यात्मिक और आधिभौतिक तीनों प्रकार की रचनाओं के नियम स्थूल दृष्टि से एक दूसरे से पृथक् होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टि से पृथक् नहीं है। सूक्ष्म दृष्टि से दोनों के अन्दर नियमों की एकता को अनुभव करते हुए सूक्ष्मदर्शी महर्षिओं ने आधिदैविक आध्यात्मिक और आधि भौतिक तीनों प्रकार के भावों को एक साथ क्रियात्मक रूप में समझाने के लिए यज्ञ पद्धति की कल्पना की थी। यज्ञ पद्धति से चूंकि तीनों प्रकारों के भावों की व्याख्या होती है इस कारण यज्ञपद्धति का बहुत महत्व है।

यज्ञ पद्धति की कल्पना निराधार नहीं है किन्तु विश्व में विद्यमान पदार्थों के पारस्पारिक सम्बन्धों को प्रकाशित करने वाले विज्ञान के आधार पर है। यज्ञपद्धति को और तीनों प्रकार की रचना को समझाने के लिए जिस विज्ञान की अपेक्षा है। उस विज्ञान का नाम यज्ञविज्ञान है। सभी विज्ञान इस विज्ञान की शाखाएं हैं। यज्ञ विज्ञान पदार्थों को और उनके परस्पर मिलने के सिद्धान्तों को स्पष्ट करता है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के साथ ऐसा मिलता है कि मिलने के पश्चात् तीसरे ऐसे पदार्थ की उत्पत्ति हो जाती है जो गुणों में अपने घटक पदार्थों से सर्वथा भिन्न होता है। ऐसे मेल को 'यज्ञ' वा 'याग' कहते हैं जो पदार्थ अपने घटक पदार्थों के ही गुणों वाला होता है, उस पदार्थ में उन पदार्थों के मेल को योग कहते हैं। सृष्टि में याग और योग दोनों प्रकार की रचनाएं विद्यमान हैं। याग और योग की प्रक्रिया त्रिलोकी में प्रतिक्षण हो रही है। इसको समझाने के लिए हमें त्रिलोकी के स्वरूप का तथा उसमें विद्यमान पदार्थों का ज्ञान करना आवश्यक है।

तीनों लोकों के समूह को त्रिलोकी कहते हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु में तीन लोक हैं। इन तीनों लोकों से परे भी एक चौथा लोक है, जिसे 'आपो लोक, कहते हैं शतपथ ब्राह्मण में इन चारों लोकों का स्पष्ट उल्लेख है। यदि एक दूसरे जगत् को दिखलाना हो तो इस त्रिलोकी से अतिरिक्त अनेक लोकों का वर्णन आता है। लोक किसी मण्डल में विद्यमान होता है। जिस मण्डल में जो लोक है उस मण्डल का नाम उसी लोकसे है। चिन्मण्डल में वैद्युत् मण्डल है। वैद्युत् मण्डल में वरुण मण्डल है। वरुण मण्डल आपोमय है इसीको आपोलोक कहते हैं। इसी का दूसरा नाम परमेष्ठी लोक है। यह वरुण मण्डल सौमिक मण्डल है। इस सौमिक मण्डल में ज्योतिर्मय भास्कर मण्डल है। इसी को हिरण्मय मण्डल भी कहते हैं। यही भृगु मण्डल है। इसमें भूमण्डल है। भूमण्डल में आङ्गिरस भरा है। इस भूमण्डल में सौमिक मण्डल है। इसी सौमिक मण्डल का नाम चन्द्रलोक है। इस प्रकार यह सब मिल कर एक जगत् कहलाता है। द्यु मण्डल और पृथ्वी मण्डल में से द्यु मण्डल महान् है और पृथ्वी मण्डल उसके अन्तर्गत होने से लघु है।

इन दोनों लोकों को मिला कर द्यावापृथ्वी कहते हैं।
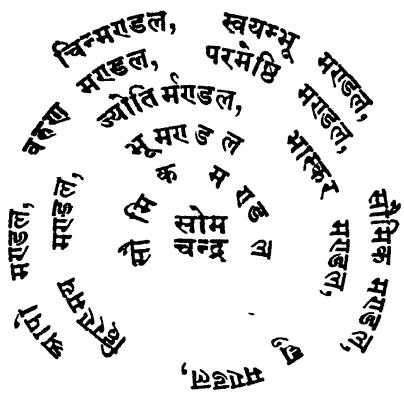
लोकों के नाम आपेक्षिक हैं। चिन्मण्डल में वरुण मण्डल कहा था। द्यु और पृथ्वी शब्द चित् वरुण में भी गये हुये हैं। चित् को यदि द्यु कहें तो वरुण को पृथ्वी कहते हैं। द्यु मण्डल में सूर्य विद्यमान है, और पृथ्वी मण्डल में पृथिवी वायु है। वरुण मण्डल को द्यौः कहें तो तदन्तर्गत सूर्य को पृथिवी कहते हैं। द्यु और पृथिवी के बीच में जितना प्रदेश है, उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। द्यौ व सूर्य के आश्रित पृथिवी है इस प्रकार इस त्रिलोकी के बीच में जितने पदार्थ हैं। उनमें आधाराधेय सम्बन्ध से अधः ऊर्ध्व और मध्य के सम्बन्ध की दृष्टि से द्यु और पृथ्वी शब्द का व्यवहार हो रहा है। शतपथ ब्राह्मण में इसके उदाहरण विद्यमान हैं।

द्यौः अन्तरिक्ष और पृथ्वी इन तीनों को मिला कर त्रैलोक्य कहते हैं। यह त्रैलोक्य ही इस दृश्यमान जगत् का कारण है, सूर्य हमेशा चमकता है, स्वयं पृथ्वी को यह प्रकाशित करता है। इसलिये इसे द्यौः कहते हैं। पृथ्वी इससे विपरीत है, स्वयं प्रकाशमान नहीं है, सूर्य से प्रकाश लेती है। इसलिए इसे रात्रि कहते हैं। अहः और रात्रि के बीच में सन्ध्या होती है। सूर्य्य और पृथ्वी के बीच में विद्यमान अन्तरिक्ष को सन्ध्या कहते हैं। इस प्रकार द्यु पृथ्वी और अन्तरिक्ष को अहः रात्री और सन्ध्या शब्दों से भी कहते हैं द्यावा पृथ्वी का नाम अहोरात्री भी इसीलिए है।

सूर्य्य को द्यौः कहने का कारण बताया था कि सूर्य्य चमकता है परन्तु पृथ्वी को पृथ्वी इसलिये कहते हैं, क्योंकि यह पृथु स्थूल व मोटी है। रचनाक्रम में सूक्ष्म से स्थूल की ओर रचना होती है। वाष्प रूप से तरल रूप और तरल रूप से घन रूप वा स्थूल रूप उत्पन्न होता है। सूर्य्य का प्रकाशमान भाग वाष्प रूप है। अन्तरिक्ष तरल है और पृथ्वी घन वा स्थूल है। घन वा स्थूल को पृथु कहते हैं। पृथु होने से पृथ्वी कहलाती है। पृथ्वी की रचना में सबसे ऊपर का भाग घन है। अन्दर का भाग तरल है और सबके अन्दर का भाग वाष्पमय है। सूर्य्य में इससे विपरीत बाहर का भाग वाष्पमय अन्दर का भाग तरल और उससे अन्दर का भाग स्थूल है। सूर्य्य में वाष्प भाग तरल के आश्रित है। अर्थात् तरल भाग वाष्प की प्रतिष्ठा है। घन वा पृथु भाग की प्रतिष्ठा होने से पृथ्वी की प्रतिष्ठा है। घन तरल और वाष्प भाग अग्नि के चारों ओर फैलने से बनते हैं। सूर्य के अन्दर अग्नि तीव्र है। सूर्य के पदार्थ तीव्र अग्नि के कारण केन्द्र प्रति मुख हो रहे हैं। जब कालान्तर में वायवीय पदार्थ निकल चुकेंगे और द्रव्य वा घन हो जाने वाले पदार्थ केन्द्र प्रति मुख हो कर अग्नि के कम हो जाने से सूर्य के बाहर कठोर छिलके का रूप धारण कर लेंगे तब सूर्य की दशा भी ऐसी ही हो जावेगी जैसे पृथ्वी की है। जैसे भूगर्भ में तरल और वायवीय पदार्थ बद्ध हो गये हैं, इसी प्रकार कभी सूर्य में भी बद्ध हो जावेंगे। तब सूर्य में घन भाग ऊपर और तरल तथा वाष्प भाग उसके गर्भ में आ जावेंगे। परन्तु अभी वायवीय और तरल भाग बाहर और स्थूल भाग अन्दर हैं। इसका कारण यही है कि वायवीय पदार्थ वा गैस थोड़े ताप से अधिक फैलती है द्रव्य उनसे कम और घन उनसे भी कम।

द्यौः से अग्नि (ताप) और प्रकाश प्रतिक्षण पृथ्वी पर आ रहा है। द्यौः अपने प्रकाश से जहां इसे प्रकाशित करती है। नाना प्रकार के जीवन तत्व को भेजती है, तहां अपने ताप से पृथ्वी के बहुत से भाग को सन्तप्त करके और सूक्ष्म करके अपनी ओर खैंचती है पृथ्वी का अग्नि भी सूक्ष्म पदार्थों को केन्द्र प्रति मुख करके सूर्य की ओर फेंकता है। द्यु मण्डल आपो मण्डल वा सोम मण्डल के अन्तः प्रविष्ट है। उस सोम की निरन्तर सूर्य किरणस्थ सौर प्राण में आहुति डल रही है और उस आहुति से पृथ्वीस्थ प्रजा वा पदार्थ तृप्त हो रहे हैं। पृथ्वीस्थ पदार्थ तृप्त होकर अग्नि के द्वारा सूर्य की प्रतिक्षिप्त किरणों के आश्रय अनेक पदार्थ अन्तरिक्ष में भेज रहे हैं।

इस प्रकार द्यु और पृथ्वी के वीच में निरन्तर यज्ञ हो रहा है। पदार्थों का सङ्कलन और विष्कलन निरन्तर जारी है।

जैसे यह सूर्य अग्नि के निरन्तर क्षय से कभी पृथ्वी के रूप में आवेगा, वैसे यह पृथ्वी भी अग्नि के निरन्तर क्षय से सूर्य रूप से पृथ्वी रूप को प्राप्त हुई है और सूर्य के अन्य ग्रह भी अपनी २ सूर्यावस्था से उस २ ग्रहावस्था को प्राप्त हुए हैं। अत्यधिक अग्नि के क्षय होने पर पृथ्वी ठन्डी होकर चन्द्र वा सोम के रूप में हो जावेगी चन्द्र क्रमशः अग्नि के क्षय से शीतता की पराकाष्ठा को पहुंच कर शुद्ध सोम रूप में पहुंचा है, अन्त में इसी प्रकार क्रमिक क्षय से अपनी सत्ता खो बैठेगा और अपने समीपस्थ ग्रह में लीन हो जावेगा। इस प्रकार सूर्य से ग्रह और ग्रह से उपग्रह तथा उसके वाद विनाश अर्थात् छिन्न भिन्न होकर सूक्ष्म हो जाना और फिर क्रमशः स्थूल होना और अन्त को फिर सूक्ष्म हो जाना यह चक्र निरन्तर चल रहा है। इस चक्र में यह नहीं कह सकते कि कौन किसके पहिले है और कौन किसके पीछे है। यह भाव बड़े सुन्दर रूप से मन्त्र में बताया है।

कतरा पूर्वा कतरा परायोः कथा जाते कवयः। को विवेद। विश्वंतमना विभृतो यद्ध नाम विवर्तेते अहनी चक्रियेव॥

(ऋ० सं० १ मं० १८५ सू० १ म०)

इस मन्त्र में पूर्वापरता को दुरूह बतलाया है। अभी तक इसका निश्चय नही हुआ। जो सत्य है, वह चिन्तनीय है। द्यावा पृथिवी को इस मन्त्र में अहनी शब्द से कहा है। द्यु श्वेत अहः है और पृथिवी कृष्ण अहः है। ये द्यावा पृथ्वी रजसी है। यज्ञ क्रियाओं से घूम रहे हैं। अपने २ क्षय पर चक्कर लगा रहे हैं। द्यावा पृथ्वी के बीच में अन्तरिक्ष में वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है और अपनी ज्योति से राजा के समान अन्धकारों को दूर करताहै।

अहश्च कृष्ण महरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः। वैश्वानरो जायमानो न राजाऽवातिर-ज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥

(ऋ० सं० मं० ६ सू० ९ मं० १)

सूर्य के गिर्द घूमती हुई पृथ्वी सूर्य के दो उदय कालों के बीच में भ्रमण मार्ग का जितना अंश चल जाती है। उतने अंश का नाम अहः है। पृथ्वी के किसी स्थान विशेष की दृष्टि से इस अहः का कुछ भाग पृथ्वी दिन में घूमती है और कुछ भाग रात्रि में। अहः का वह भाग जिसे वह दिन में तय करती है। अर्जुन (श्वेत) है, और वह भाग जिसे यह रात्रि में तय करती है, कृष्ण है। अहः का इस प्रकार श्वेत और कृष्ण रूपों में रञ्जन द्यु और पृथ्वी के सम्बन्ध से होता है। इस रञ्जन के कारण ही द्यावापृथिवी की रजसी कहा है।

ये द्यावा पृथिवी एक दूसरे के साथ सक्त हुए २ एक दूसरे को अपने २ रसों से प्रीणन करते रहते हैं। पृथ्वी से एक प्रकार के रस निकलते हैं, जिन्हें सूर्य किरणों से ग्रहण करता है। ये रस वाक् गौ और द्यौ हैं। पृथ्वी से निकल कर द्यु की ओर जारहे हैं, ज्योतिः गौः आयुः ये सूर्य के रस हैं। सूर्य से पृथ्वी की ओर आ रहे हैं।

किसी समय द्यावा प्रथिवी पृथक् नहीं थे, पृथ्वी के साथ द्यौः और द्यौ के साथ पृथ्वी थी। समय पाकर सौर्य पृथिवी से यह पृथिवी अपत्य रूप से पृथक् हो गई, परन्तु पहिले इनका जो सम्बन्ध था, वह सम्बन्ध पृथक् होने पर भी टूटा नहीं उस सम्बन्ध को समझने के लिए यह ध्यान रखना चाहिए कि जो कुछ भी रचना हो रही है, उसमें तीन वस्तुएं शामिल हैं, एक वस्तु का आकार दूसरा उस आकार में भरा हुआ पदार्थ, और तीसरा जो उस पदार्थ को ग्रहण किए हुए है। पदार्थ को जिसने ग्रहण किया है वह अन्नाद है, वह पदार्थ अन्न है और वह आकार जिसमें पदार्थ भरा है, वह आवयन है। आवयन मन है, अन्नाद प्राण है, और अन्न वाक् है।

मनुष्य मन के अन्दर किसी मकान के स्वरूप को लाता है, उस मकान के रूप में वाक् (Matter) भरा जाता है और प्राण उस वाक् को उस मकान का स्वरूप दे देता है। इस प्रकार सम्पूर्ण रचना हो रही है। मन प्राण वाक् को ही क्रमशः ज्योतिः गौः आयुः कहते हैं। ज्योतिः गौः आयु सौर पदार्थ हैं, जो पृथ्वी की ओर आरहे हैं। इनका प्रधान स्थान क्रमशः द्यौः, अन्तरिक्ष, पृथ्वी है। तैत्तरीय संहिता (७-२ ४, ७-३-६; ७-३-५) में यह स्पष्ट कथन किया है, पृथ्वी से जो पदार्थ निकल रहे हैं, वे वाक्, गौः द्यौः हैं। क्रमशः वाक् प्राण, मन हैं। इनका प्रधान स्थान क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ है। इस प्रकार सूर्य मन है, और वाक् उसका अंग है तथा पृथ्वी वाक् है, मन उसका अंग है। इस प्रकार सूर्य और पृथ्वी पृथक् २ दूर २ रहते हुए भी परस्पर अङ्गाङ्गि भाव रखते हैं और एक दूसरे को तृप्त करते हैं तथा नानाविध सृष्टि रचते हैं।

यजुर्वेद में और अथर्ववेद में भी एक मन्त्र आता है यथा ऽग्नि गर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" शतपथ में बताया है, इन्द्र इति ह्येत मावक्षते य एष तपति" अर्थात् सूर्यगत प्राण को इन्द्र कहते हैं। सूर्य से निकली हुई ऐन्द्री वाक् साहस्र नाम के मण्डल को बनाती है। शतपथ ५ का ४ प्र.७ ब.१२ क में, बताया है, कि यह सहस्र वाक् से उत्पन्न हुआ है। यह सहस्र ही तीन वेद रूप है। अब आगे सहस्र की व्याख्या की जावेगी और साथ ही त्रिलोकी के पदार्थों का निरूपण होगा, फिर उन पदार्थों से यज्ञ कैसे सम्पादन हो रहा है, यह दिखलाया जायगा।

वैदिक-राजा

(लेखकः—सम्पादक)

यजुर्वेद के २० वें अध्याय के आरम्भिक मन्त्र वैदिक-राजा के स्वरूप का प्रदर्शन करते हैं। इन मन्त्रों के पढ़ने से ज्ञात हो जायगा कि वेद ने राजा में किन २ वैयक्तिक गुणों का होना आवश्यक समझा है, तथा वेद की दृष्टि में राजा का उद्देश्य क्या है। इन मन्त्रों में राज्याभिषेक का वर्णन प्रतीत होता है। राज्याभिषेक के समय इन मन्त्रों द्वारा वेद ने राजा को कतिपय व्रतों को लेने का आदेश किया है। जो व्रत कि शासन की दृष्टि से मार्मिक हैं। अब इन मन्त्रों की क्रम से व्याख्या की जाती है। यथाः—

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि।
मात्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः॥ १॥

"क्षत्र की तु योनि है, क्षत्र का तू केन्द्र है। क्षत्र तेरी हिंसा न करे, तू क्षत्र की हिंसा न कर"।

(क) क्षत्र का अर्थ यहाँ पर है "राष्ट्र"। वेद में बहुत स्थानों पर "राष्ट्र" अर्थ में क्षत्र शब्द का प्रयोग मिलता है। पुरोहित या प्रजा का प्रतिनिधि उस राजा के प्रति-जिसका कि राज्याभिषेक करना है—कहता है कि हे राजन्! तू "क्षत्र अर्थात् राष्ट्र की योनि" है। वह राष्ट्र नहीं जहां

कि कोई निश्चित राज्य व्यवस्था नहीं। जहाँ परस्पर लड़ाई दंगे होते रहते हैं, राजा के चुने जाने या उसे गद्दी से उतार देने का अधिकार जहाँ प्रजा को नहीं—वह देश राष्ट्र नहीं कहलाया जा सकता। राजा—जोकि चुना हुआ हो—राज्य व्यवस्था का प्रतिनिधि हुआ करता है। इसी भाव को दृष्टि में रख कर राजा को राष्ट्र का योनि कहा गया है। मातृयोनि से पुत्र रत्न उत्पन्न होता है, इसी प्रकार राजा-रूपी-योनि से राष्ट्र में राष्ट्रत्व की उत्पत्ति होती है। यहाँ राजा से अभिप्राय राज्य-व्यवस्था का है।

(ख) राजा को राष्ट्र की नाभि भी कहा है। नाभि शरीर का केन्द्र भाग होता है। इस प्रकार राष्ट्र शरीर का केन्द्र भाग राजा है।

(ग) राजा को चेतावनी दी गई कि कहीं तू ऐसे कर्म न करना जिससे कि प्रजा या राष्ट्र तेरी हिंसा कर बैठे। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि वेद राजा को परमात्मा की मूर्ति नहीं मानता और न इस प्रकार के अभिप्रायों से उसमें कोई दैवी-शक्ति ही मानता है। नहीं तो प्रजा द्वारा उसकी हिंसा की ओर इशारा वेद का न हो सकता। मन्त्र में स्पष्ट दर्शाया है कि यदि तू प्रजा या राष्ट्र की हिंसा नहीं करेगा तो प्रजा या राष्ट्र भी तेरी हिंसा नहीं करेगा। इस लिये राजा और प्रजा का पारस्परिक व्यवहार यह सूचित हो रहा है कि वे एक दूसरे की रक्षा किया करें, नकि हिंसा।

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा[1]।
साम्राज्याय सुक्रतुः। मृत्योः महि विद्योत्पाहि॥२॥

"जिसने कि व्रतों को धारण किया है ऐसा वरुण प्रजाओं में आकर बैठा है। यह उत्तम राज्य करने के लिये बैठा है। यह उत्तम संकल्पों वाला, उत्तम प्रज्ञा वाला और उत्तम कर्मों वाला है। मृत्यु से हमारी रक्षा कर, विद्युत् से हमारी रक्षा कर"।

(क) इस मन्त्र में राजा का नाम दिया है "वरुण"। वरुण शब्द यहां दो भावों का सूचक है। एक तो चुना जाना और दूसरा आपत्तियों से निवारण करना। वैदिक राजा चूंकि प्रजा द्वारा चुना जाता है इस लिये वेद में राजा का वर्णन वरुण नाम से भी होता है। और चूंकि यह प्रजा के कष्टों और अनिष्टों का निवारण करता है इस लिये भी इसे वरुण कहते हैं।

(ख) वैदिक-दृष्टि में व्रतों की बड़ी महिमा है। व्रत में व्रत लेने वाले की इच्छा का होना आवश्यक है। ज़बरदस्ती से लिया गया व्रत नहीं कहलाता। वेद की आज्ञा है कि जब किसी व्यक्ति को राजा चुनो तो उसे व्रत धारण भी कराओ कि वह प्रजा का धर्म से पालन करेगा, अपने भोग तथा स्वार्थ में रत नहीं रहेगा, इत्यादि। इन व्रतों के धारण कराने से राजा अपना धार्मिक कर्तव्य समझेगा कि राज्याभिषेक के समय उसने जो प्रतिज्ञाएं की थीं उन सब का वह पालन करे। तथा राजा को व्रत धारण कराना मानो प्रजाजन में खुले रूप से यह उद्घोषित करना है कि अमुक राजा को इन २ शर्तों पर राजा बनाया गया है ताकि प्रजा भी राजा पर अंकुश का काम कर सके। इन्हीं भावों को मन्त्र में का "धृतव्रताः" पद—जो कि राजा का विशेषण है—सूचित कर रहा है।

(ग) राजा उसे बनाना चाहिये जिसकी कि प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि उत्तम हो, संकल्प अर्थात् मानसिक भावनाएँ पवित्र तथा प्रजा के भले के लिये हों, और जिसके कर्म भी उत्तम हों अर्थात् जो कि सदाचारी तथा परोपकारी हो।

(घ) राजा के होने के तीन प्रयोजन यहां दर्शाए गये हैं।

(१) सम्यक् राज्य करना। जिससे कि प्रजा सुखी रहे और दिनों दिन उसकी उन्नति होती चली जाय।

---

(१) पस्त्याः = प्रजा। "विशो वै पस्त्याः" (श० प० ब्रा० ५।४।४।५॥)

(२) दूसरा प्रयोजन है प्रजा में मृत्यु संख्या को घटाना। इस ओर वर्त्तमान समय के राष्ट्रों का बड़ा ध्यान है। वर्तमान भारतवर्ष में मृत्यु संख्या बड़ी भयंकर है। लोगों की औसतनआयु का परिमाण भी बहुत छोटा है। हमारे प्राचीन पुरुषों में औसतन आयु का परिमाण बहुत बड़ा था, उस समय मृत्यु संख्या भी बहुत थोड़ी थी। वेद में न्यून से न्यून १०० वर्षों तक जीना तो प्रत्येक मनुष्य का अधिकार सा माना गया है। वेद में १०० वर्षों से भी अधिक जीने का उपदेश स्थान २ पर मिलता है। कहीं २ तो ३०० वर्षों तक जीने का भी उपदेश वेद में मिलता है।

(३) तीसरा प्रयोजन है प्रजा की विद्युत् आदि से रक्षा करना। विद्युत् का गिरना एक प्राकृतिक घटना है। वर्षा ऋतु में इसका बादलों से गिरना होता है। उस विद्युत्पात से रक्षा करना राजा का कर्तव्य दर्शाया गया है। इस विद्युत्पात से प्रजा की रक्षा करने के लिये कितनी वैज्ञानिक बुद्धि तथा आविष्कार की आवश्यकता है इसे आजकल की वैज्ञानिक प्रजा समझ सकती है। आजकल प्रायः सरकारी सभी बड़ी २ इमारतों पर ऐसे यन्त्र लगे रहते हैं जिससे विद्युत्पात से उस इमारत की रक्षा हो जाती है। नगरों में स्थान २ पर ऐसे यन्त्र लगने चाहियें ताकि विद्युत्पात द्वारा प्रजा का नाश न हो—यह भाव यहाँ सूचित किया गया प्रतीत होता है।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अश्विनो भैषिज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि। सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चामि। इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि॥ ३॥

"प्रेरक-देव की प्रेरणा में मैं दोनों अश्वियों की बाहुओं तथा पूषा के हाथों से, दोनों अश्वियों की चिकित्सा के सहारे, तेज तथा ब्रह्मवर्चस की वृद्धि के लिये, तेरा राज्याभिषेक करता हूं। सरस्वती की चिकित्सा के सहारे, वीर्य और खान-पान की सामग्री की वृद्धि के लिये, तेरा राज्याभिषेक करता हूं। इन्द्र के सामर्थ्य के सहारे, बल—श्री—और—यश की वृद्धि के लिये, तेरा राज्याभिषेक करता हूं।

(क) इस मन्त्र में पुरोहित चुने गये राजा के प्रति प्रथम यह कहता है कि मैं "प्रेरक-देव की प्रेरणा के अनुसार तेरा राज्याभिषेक करता हूँ"। प्रेरक-देव परमात्मा है जो कि समग्र संसार में प्रेरणा कर रहा है। "राजा होना चाहिये" इस सम्बन्ध में प्रेरणा परमात्मा ने वेदों द्वारा मनुष्यों के प्रति की है। क्योंकि बिना राजा के अर्थात् राज्य-व्यवस्था के प्रजा में सुख नहीं बढ़ सकता।

(ख) पुरोहित आगे कहता है कि मैं "दोनों अश्वियों के बाहुओं तथा पूषा के हाथों से तेरा राज्याभिषेक करता हूँ"। "बाहु" शब्द बल अथवा शक्ति का सूचक है। और "हस्त" शब्द काम, परिश्रम अथवा शारीरिक प्रयत्न का सूचक है। वेदों में दोनों अश्वियों का दो "विश्वपती" अर्थात् प्रजा के पति के रूप में भी वर्णन मिलता है। वैदिक दृष्टि में प्रजा शासन के दो विभाग हैं। एक Civil दूसरा Military अर्थात् एक नागरिक-प्रजा का शासन और दूसरा सैनिक प्रजा का शासन। वैदिक राजा के नीचे ये दो मुख्य शासक हैं जिनमें से एक मुख्य रूप से नागरिक-प्रजा की देख भाल करता है और दूसरा सैनिक-प्रजा की। इसी दृष्टि से इन दोनों मुख्यों को भी 'विश्वपती' अर्थात् प्रजापति कहा जाता है। पुरोहित, राज्याभिषेक समय, चुने गये राजा को यह आश्वासन देता है कि यह दोनों मुखिया तेरे साथ हैं, इनके बलों के सहारे मैं तेरा राज्याभिषेक कर रहा हूं, ये दोनों तेरे साथ हैं।

साथ ही पुरोहित पूषा के हाथों के अवलम्ब की

ओर भी निर्देश कर रहा है। पूषा देवता वैदिक-देवताओं में शूद्रों का प्रतिनिधि गिना गया है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "सः शौद्रं वर्णमसृजत् पूषणम्" (श० ब्रा० १४।४।२।२५) अर्थात् परमात्मा ने शूद्र वर्ण को उत्पन्न किया जोकि पूषा है। इस पूषा के हाथों का सहारा तेरे लिये है इस भाव को पुरोहित राजा के सन्मुख रखना चाहता है। मज़दूर अथवा मज़दूर और किसान दोनों प्रकार की प्रजायें वैदिक-दृष्टि में "पूषा" हैं। इनके हाथों का सहारा राजा के लिये आवश्यक है। इस वर्णन द्वारा प्रतीत हो रहा है कि वैदिक-राष्ट्र में मज़दूरों और किसानों का भी राष्ट्र की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। वैदिक राष्ट्र में राजा के चुनाव में इन्हें यदि पर्य्याप्त अधिकार न हों तो इनका राज्याभिषेक के समय इस प्रकार से वर्णन करना व्यर्थ ही होगा। अतः इस दृष्टि से वैदिक-राष्ट्र पर्य्याप्त ऊंचा दिखाई देता है।

(ग) पुरोहित आगे कहता है कि "दोनों अश्वियों की चिकित्सा के सहारे, तेज तथा ब्रह्मवर्चस की वृद्धि के लिये, तेरा राज्याभिषेक करता हूँ"। नागरिक-प्रजा तथा सैनिक-प्रजा के मुखियों का काम है चिकित्सा करना, राष्ट्र-देह के रोगों का निवारण करना। वास्तव में प्रजा-शासन और राज्य-व्यवस्था की कोई आवश्यकता न पड़े यदि राष्ट्र की देह में रोग उत्पन्न न हुआ करें, जिनकी कि शान्ति या निवारण के लिये शासन व्यवस्थाओं या राज्य-व्यवस्थाओं का निर्माण होता है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक-दृष्टि में शासन-व्यवस्था या राज्य-व्यवस्था राष्ट्र-देह के लिये चिकित्सा का काम देती है, जिसके कि मुख्य चिकित्सक ये दो मुखिया गिने गये हैं। यहाँ राष्ट्र को देह की उपमा दी गई है। इसी कल्पना के आधार पर यहाँ राज्य-व्यवस्था को चिकित्सा भी कहा गया है। देह का स्वास्थ्य दो वस्तुओं पर अवलम्बित होता है। एक तो चिकित्सा पर और दूसरा पुष्टि तथा वृद्धि पर। देह में यदि कोई रोग आ जाय, तो उस रोग को शान्त करने के लिये, उसे हटाने के लिये, चिकित्सा की आवश्यकता होती है और चिकित्सा के अच्छे प्रकार से हो जाने का परिणाम यह होना चाहिये कि चिकित्सित देह के आगे दिनों दिन पुष्टि होती चली जाय, वृद्धि होती चली जाय, तभी शरीर का वास्तविक स्वास्थ्य बन सकता है। इस प्रकार दोनों अश्वियों की वैदिक-राष्ट्र में स्थिति दो प्रयोजनों के लिये ऊपर कही गई है। एक चिकित्सा के लिये और दूसरी राष्ट्र के तेज और ब्रह्मवर्चस की वृद्धि के लिये। चोरी, व्यभिचार, परस्पर छीना-झपटी आदि खराबियां राष्ट्र-देह के रोग हैं। दोनों अश्वियों का काम है कि वे राष्ट्र देह के इन तथा इस प्रकार के अन्य रोगों को भी दूर करें और साथ ही साथ राष्ट्र-देह के तेज को भी बढ़ाएं और उसमें विशेष रूप से ब्रह्मवर्चस की वृद्धि भी करें। वेदों के अध्ययन करने वाले जानते होंगे कि वैदिक सिद्धान्त में नागरिक-प्रजा का मुखिया तो ब्राह्मण हुआ करता है और सैनिक-प्रजा का मुखिया क्षत्रिय हुआ करता है। राष्ट्रदेह में तेज की वृद्धि का उत्तरदाता तो सैनिक-प्रजा का मुखिया है, और ब्रह्मवर्चस की वृद्धि का उत्तरदाता नागरिक-प्रजा का मुखिया है। जिस राष्ट्र का सैनिक-बल कमजोर है वह मानों राजनैतिक-दृष्टि से निस्तेज है, तेज रहित है। उसे हर एक आकर दबा सकता है, उसके अधिकारों को पद-दलित कर सकता है। इसलिये इस मन्त्र में सैनिक-बल को राष्ट्र देह का तेज कहा गया है। मुख्य सेनापति को चाहिये कि वह राष्ट्र-देह के इस तेज की सदा वृद्धि करता रहे। राष्ट्र में दूसरी वृद्धि होनी चाहिये "ब्रह्मवर्चस" की। अर्थात् जिन गुणों के प्रतिनिधि ब्राह्मण हैं—जिस कारण कि वे राष्ट्र-देह के मुख रूप गिने जाते हैं—उनकी वृद्धि करना ब्रह्मवर्चस की वृद्धि करना है। विद्या, तपश्चर्या, परोपकार, वाग्मिता, सदाचार आस्तिकता आदि सद्गुणों को "ब्रह्मवर्चस" कहते हैं। ये गुण ही वास्तव में राष्ट्र-देह के प्राण हैं, राष्ट्र-देह की आत्मा हैं। इन गुणों के विना समझना चाहिये कि राष्ट्र-देह प्राण रहित है, आत्मा के रहित है। राष्ट्र-देह में जिन सद्वस्तुओं की वृद्धि करनी चाहिये उन्हें यहाँ "तेज" और "ब्रह्मवर्चस"

कहा गया है। दो अश्वी इन दो वस्तुओं की वृद्धि करने वाले हैं। अतः प्रतीत होता है कि इन दो अश्वियों में से एक तो सैनिक-प्रजा का मुखिया है, जिसे कि मुख्य सेनापति कह सकते हैं और दूसरा नागरिक-प्रजा का मुखिया है जिसे कि प्रधानमन्त्री कह सकते हैं। यह ऊपर लिखा जा चुका है, कि इन दोनों को "विश्पती" भी वेदों में कहा गया है। क्योंकि ये ही दो मुख्य शक्तियां "विश्" अर्थात् प्रजा की वास्तविक पति हैं, रक्षक हैं।

(घ) पुरोहित आगे और भी कहता है कि हे राजन्! "सरस्वती की चिकित्सा के सहारे वीर्य और खान-पान की सामग्री की वृद्धि के लिये, तेरा राज्याभिषेक करता हूँ"।

पहले दो अश्वियों की चिकित्सा का वर्णन हो चुका है। इस समय सरस्वती की चिकित्सा का वर्णन है। सरस्वती की चिकित्सा के सहारे राज्याभिषेक करने तथा वीर्य और अन्न की वृद्धि होने का वर्णन यहाँ है। सरस्वती शब्द का प्रयोग विद्या के अर्थ में तथा विदुषी-प्रजा के अर्थ में प्रायः हुआ करता है। राष्ट्र में विद्या का खूब प्रचार होना चाहिये ताकि प्रजा विद्यासम्पन्न होकर इस अभिषिक्त राजा का सहारा बने और साथ ही प्रजा यह भी समझे कि राष्ट्र की प्रजा के देह में वीर्यशक्ति बड़ी आवश्यक वस्तु है और इस वीर्यशक्ति की उत्पत्ति और इसकी रक्षा के लिये राष्ट्र में वह ऐसे ही अन्न उत्पन्न करे जिन अन्नों के सेवन से प्रजा की देह में वीर्य-शक्ति बढ़ती जाय और वह शक्ति सुरक्षित भी रहे और वह ऐसे अन्नों को उत्पन्न न करे जिसके कि सेवन से इस वीर्यशक्ति का ह्रास हो और इसका नाश हो। इस दृष्टि से भांग, चरस, शराब, गरम मसालों आदि की राष्ट्र में विशेष उत्पत्ति का राष्ट्रीय दृष्टि से यहाँ निषेध किया गया है।

यहां सरस्वती का सम्बन्ध वीर्य और अन्न की वृद्धि के साथ है। वीर्य और वीर्यशक्ति के बढ़ाने वाले अन्नों का उत्पन्न करना साक्षात् रूप से किसान प्रजा का काम है, न कि अन्य प्रजाजनों का। इसलिये सरस्वती शब्द का अर्थ यहाँ किसान प्रजा भी सम्भव है। सरस्वती शब्द में "सरस्" शब्द विद्यमान है। सरस् का अर्थ तालाब भी होता है। अतः सरस्वती का अर्थ "तालाबों वाली प्रजा" भी किया जा सकता है। खेतों में पानी देने के लिये कुओं और तालाबों की आवश्यकता होती है। इसी दृष्टि से किसान प्रजा को सरस्वती यहाँ कहा गया हो—ऐसी कल्पना करना कोई असम्भव कल्पना नहीं है। इस द्वितीय अर्थ की दृष्टि में पुरोहित राजा को यह कहता हुआ प्रतीत होता है कि हे राजन्! तुझे किसान प्रजा का भी सहारा है। जो किसान प्रजा तेरे राष्ट्र में वीर्यशक्ति और अन्नों की वृद्धि करने वाली है।

(ङ) पुरोहित आगे और भी कहता है कि "इन्द्र के सामर्थ्य के सहारे, बल-श्री-और-यश की वृद्धि के लिये, तेरा राज्याभिषेक करता हूँ"। इस कथन में पुरोहित राष्ट्र के बल-श्री-और-यश के लिये इन्द्र शक्ति के सहारे की ओर निर्देश करता है। यहां बल से अभिप्राय सैनिक-बल का है, श्री से अभिप्राय धन-सम्पत् का, तथा यश से अभिप्राय राष्ट्र प्रशंसा और कीर्ति का है। परन्तु इन तीनों प्रयोजनों की सिद्धि में सहारा केवल इन्द्र का सामर्थ्य माना गया है। वैदिक साहित्य में इन्द्र के नाना अर्थ हैं। जिन में से यहाँ तीन अर्थ लिये गये हैं। एक सेनापति दूसरा वणिक्[1] अर्थात् व्यापारी और तीसरा सूर्य[2]। यहाँ इन तीनों के सहारे की अपेक्षा की गई है। इस प्रकार सेनापति के बल के सहारे सैनिक-बल की वृद्धि का, व्यापारी के बल के सहारे धन-सम्पत् की वृद्धि का, तथा सूर्य के सहारे अर्थात् पर राष्ट्र के यश की वृद्धि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस मन्त्र में राजा के राज्याभिषेक में प्रधान-मन्त्री, मुख्यसेनापति, मजदूर लोग,

(१) "इन्द्र महं वणिजं चोदयामि" (अथर्व० ३। १५। १)

(२) "यथेन्द्रो द्यावा पृथिव्यो र्यशस्वान्" (अथर्व० ६। ५८। २)

किसान प्रजा, तथा व्यापारी लोग-इन सब के सहारे का वर्णन किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक दृष्टि में राजा के चुनाव में इन सब का हाथ होना स्वीकृत किया गया है। नहीं तो इनके सहारे के वर्णन का कोई तात्पर्य यहां समझ में नहीं आता।

साथ ही इस तीसरे मन्त्र में राष्ट्र-व्यवस्था के प्रयोजन भी गिनाये हैं। जैसे कि राष्ट्र में तेज अर्थात् सैनिक-बल की वृद्धि करना, ब्रह्मवर्चस की वृद्धि करना, राष्ट्र की प्रजा में वीर्य की वृद्धि करना, तदनुकूल सात्विक अन्नों की वृद्धि करना, राष्ट्र में धन सम्पत् की वृद्धि करना, तथा इन सब की वृद्धि से राष्ट्रीय-यश की वृद्धि करना।

पुनर्जन्म

(लेखक श्री प्रो० नन्दलालजी M. A.)

पुनर्जन्म एक बहुत पुराना सिद्धान्त है, प्राचीन संसार में हर जगह माना जाता था। वेद जो संसार की सब से प्राचीन और पवित्र पुस्तकें हैं, इसकी शिक्षा देते हैं। मनु आदि स्मृतियों में इसका स्थान २ पर वर्णन है। आन्हिक, दर्शन शास्त्र इसे मान कर चलते हैं, इसको स्वयं सिद्ध तथा पूर्ण समझ कर इस पर वाद विवाद आवश्यक नहीं समझते। बौद्ध और जैन आचार्यों की नास्तिक Philosophy में भी इस सिद्धान्त को ठीक माना गया है। भारतवर्ष में आरम्भ से अबतक प्रत्येक समाज और मस्तिष्क के लोग इसको बग़ैर शक के मानते रहे हैं। यह न केवल एक Philosophical सिद्धान्त है, अपितु प्रत्येक मनुष्य के जीवन का भाग है। "आत्मा मरती नहीं शरीर को चाहे मारो" इस पर केवल हकीकत राय को अपितु प्रत्येक हिन्दू मात्र को पूर्ण विश्वास है।

जो सन् ईस्वी के आरम्भिक काल में हुआ है। और मिस्री (Egyptian) फिलासफी से सम्बन्ध रखता था, उस समय के भारतवर्ष के ब्राह्मणों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखता है, कि "यह लोग कपड़े, धन और स्त्रियों के विना रहते हैं लोग इनकी बड़ी इज्जत करते हैं, यहां तक कि राजा भी प्रायः इनसे मशवरा लेने जाता है, मौत के मुतालिक (सम्बन्ध में) उनके ऐसे विचार हैं, कि वह जिन्दगी (जीवन) को क़ुदरत (native) की मजबूरी खलास तस्वुर करते हैं, अर्थात् समझते हैं और शीघ्र आत्मा को शरीर की गुलामी से आज़ाद (मुक्त) करना चाहते है, अगर्चे (यदि) उनकी सेहत अच्छी हो और किसी किस्म की कोई तकलीफ़ न हो, लेकिन वह अपने हाथों शरीर का खात्मा कर डालते हैं और इस बात को पहिले से मुशतहर (विज्ञप्त) कर छोड़ते हैं, कोई इन्हें रोकता नहीं सब इन्हें खुश किस्मत (भाग्य युक्त) ख्याल करते हैं आत्मा के आगामी जीवन में इन्हें इतना, पक्का विश्वास है, कि वे आग में कूद पड़ते हैं, ताकि आत्मा शुद्ध रूप में शरीर से पृथक् हो, नाम और मन्त्र गाते हुए शान्त हो जाते हैं। जब सिकन्दर आजम (Alexander the Great) भारत वर्ष में आया तो उसने इन लोगों को आग में कूदते देखा।

सती प्रथा चाहे कितनी ही गलत और बेबुनियाद थी, मगर इसकी जड़ में यह विश्वास काम कर रहा था-कि मौत जीवन का अन्त नहीं हैं, किन्तु एक जीवन छोड़ कर दूसरा जीवन प्राप्त किया जा सकता है।

प्राचीन मिस्र (Egyptian) निवासी भी इस सिद्धान्त को मानते थे। यूनानी इतिहास लेखक हिरोद् विलसन यूँ लिखता है, कि सबसे पहिले मिस्र निवासियों ने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि मनुष्य का आत्मा अजर अमर है जब किसी का शरीर छूट जाता है तो आत्मा किसी अन्य शरीर में चला जाता है, जो इसके लिए बना हो और जब यह सब प्राणियों

की योनि में से गुज़र चुकता है तो फिर मनुष्य के शरीर में आता है यह चक्र तीन हज़ार वर्ष में पूर्ण होता है। इनका यह भी विश्वास था कि जब तक मनुष्य शरीर नष्ट न हो जाय आत्मा इससे सम्बन्ध रखता था, और इस लिए आत्मा को पशु-योनि में जाने से रोकने के लिए वे मृत शरीर को मसाला लगा कर इस प्रकार रख छोड़ते थे कि हजारों वर्ष के बाद भी ख़राब न हो। हिरोद विलसन (Herod Wilson) का यह ख्याल अशुद्ध मालूम होता है कि पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रचार पहिले पहल मिस्र के लोगों ने किया इसका आरम्भ वगैर किसी सन्देह के भारतवर्ष + से ही हुआ। मगर इतनी बात अवश्य ठीक प्रतीत होती है, कि मिस्रनिवासी भी इस सिद्धान्त को मानते थे।

पुराने केलडियन ※ (Chaldians) लोग भी पुनर्जन्म मानते थे। पारसी और केलडियन (Chaldians) रहस्यज्ञाता, जिन्हें Maji के नाम से पुकारा जाता है, यह मानते थे कि आत्मा के कई अंश होते हैं मृत्यु के पश्चात् कुछ अंश नष्ट हो जाते हैं, और कुछ शेष रह जाते हैं जो कई जन्मों में से गुजरते हैं, अन्त में आत्मा ऐसा साफ और पवित्र हो जाता है, कि इसे कोई शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती, और यह सदा नित्य आनन्द की अवस्था में रहता है उस अवस्था में प्रवेश से पूर्व यह अपने समस्त पूर्व जन्मों को देख सकता है, जिससे यह बुद्धि और अनुभव का संचय कर सकता है और आगामी नस्लों (Generations) को लाभ पहुंचा सकता है।

पुराने चीन में भी पुनर्जन्म माना जाता था यद्यपि यह रहस्य प्रत्येक को नहीं बताया जाता था, अपितु उन थोड़े लोगों के लिए सुरक्षित था, जिन्होंने कि विशेष अवस्था तक आत्मिक उन्नति की हो। लावश्नरी (Laetra) इसकी शिक्षा देता था, और Chawgteze कहा करता था कि मौत एक नवीन जीवन का प्रारम्भ है। प्रारम्भ में (Taoism) के अनुयायी भी मानते थे कि शरीर के शुभ और अशुभ कृत्य आगामी शरीर में फलीभूत होते हैं, कई चीनी फिलासफर मानते थे कि आत्मा के ३ भाग होते हैं।

(१) केई (Kaei) जो पेट में रहता है और शरीर के साथ ही मर जाता है। (२) लिङ्ग (Ling) जिसका स्थान हृदय या छाती है, जो मृत्यु के पश्चात् कुछ समय तक रहता है और फिर नष्ट हो जाता है। (३) (Huen) ह्वन जो दिमाग में रहता है और मृत्यु पश्चात् अन्य योनियों में से गुजरता है।

प्राचीन Britain में जिसे आजकल England कहते हैं और Gaul में जो कि आजकल Germany, France आदि का भाग है, पुरोहित या अध्यात्म-विद्या जानने वाले रहते थे जिन्हें कि (Druid) ड्रूड कहते हैं। ये लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते थे। (Julias cœser) जूलियस सीजर, जिसको मरे लगभग दो हज़ार वर्ष हो गये हैं लिखता है कि (Gaul) गाल के लोगों को विश्वास है कि मृत्यु पर आत्मा नहीं मरता किन्तु किसी अन्य शरीर में चला जाता है, और इसी लिए वे लोग मृत्यु की परवाह नहीं करते। (Dr. Pascal) पास्कल अपनी पुस्तक Re-incarnation में लिखता है कि कुछ काल पहिले तक Britain के कुछ भागों

× उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में इस सिद्धान्त के प्रमाण स्थान २ पर मिलते हैं। मूल वेदों में—जिन्हें कि पाश्चात्य विद्वान् एक स्वर से संसार में सब से प्राचीन धर्म पुस्तक मानते हैं, कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त कई स्थानों में वर्णित है। अथर्ववेद का० १०, सू० ८, के २७, २८ में पुनर्जन्म का वर्णन अति स्पष्ट शब्दों में रखा गया है। यथाः—

(क) त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

(ख) उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥

※ यह लोग कलडिया देश के निवासी थे। कलडिया देश प्राचीन काल में एशिया में की यूफरेटस नदी के किनारे बसा हुआ था।

में जो आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से बचे हुए थे, पुनर्जन्म पर विश्वास किया जाता था और England और France दोनों में (Druid) ड्रूड लोग मौजूद थे, यद्यपि बहुत गिरी हुई अवस्था में थे। आगे चल कर Dr. Pascal लिखता है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष के लोग धर्म प्रचार के लिए सब ओर जाया करते थे, और जो वर्तानिया (Britain) और गाल (Gaul) बस गये, जिनका नाम (Druid) ड्रूड पड़ गया, ये अपने आपको साँप कहा करते थे और भारतवर्ष में भी सांप दीक्षा का चिन्ह मनाया जाता था। सीज़र (Cœser) लिखता है कि एक ड्रूड को ३० वर्ष तक पढ़ने की आवश्यकता समझी जाती थी (William Walker, Atkinson) विलियम वाकर ऐटकिन्सन लिखता है कि उन ड्रूड लोगों के अन्दर कथाएं प्रसिद्ध थीं जिनसे उनका सम्बन्ध आर्य धर्म के साथ प्रगट होता था। कहानियां प्रसिद्ध हैं कि pythogoras पाथोगोरस इन ड्रूड लोगों का शिक्षक था और pythogoras का भारतवर्ष के साथ बहुत सम्बन्ध था। यह सब कुछ ठीक हो अथवा न हो, इसमें सन्देह नहीं, कि ये लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते थे। यहां तक कि ये अपराधी को जिसे कि मृत्यु दण्ड दिया जाता था मारने से पूर्व ५ वर्ष का अवकाश देते थे ताकि वह ज्ञान के द्वारा आगामी जीवन की तय्यारी करे, और एक दुष्ट आत्मा नये जीवन में न चला जाय। इंगलिस्तान और आयर्लेण्ड में कुछ कहानियां ऐसी प्रसिद्ध हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि कुछ बच्चे ऐसे पैदा होते हैं, जिन्हें कि पूर्व जन्म की स्मृति होती है। समझा जाता है, कि ये कहानियां पुराने समय से चली आती हैं। पुराने यूनान में भी यह सिद्धान्त माना जाता था। इन लोगों का एक धार्मिक मन्त्र यानी (orphic Hymn) इस प्रकार का था—"जब तुम जीवन की यात्रा करो तो उसका अन्त याद रक्खो, आत्मा जब पृथ्वी पर रह कर प्रकाश में वापिस आते हैं तो उन पर पाप के चिन्ह होते हैं उनको धोने के लिए वह वापिस पृथ्वी पर लौट आते हैं परन्तु शुद्ध और पवित्र आत्मा सीधे सूर्य की ओर चले जाते हैं। pythogoras एक प्रसिद्ध यूनानी philosopher था वह और उसके अनुयायी पुनर्जन्म को मानते थे। कहते हैं, कि Pythogoras भारतवर्ष में भी आया था, यह अपने अनुयायी को कठिन तपस्या की शिक्षा देता था जो बिलकुल भारत वर्ष के तपस्वियों के ढंग की थी। कहते हैं, कि Pythogoras को अपने कई पूर्वजन्मों की स्मृति थी। उसने बताया कि मैं पहिले Argonants के समय में acthalides था। उसके बाद मैं Euphorties था, Troy के घेरे में Menelas के हाथ से मारा गया। फिर मैं Clazomence का रहने वाला Hermotemas बना। जिसने Argos में Juno के मन्दिर में उस ढाल को पहचान लिया था, जो उसके हाथ में थी फिर मैं Delos में phyrrhas नामी एक मांहीगीर था। और फिर pythogoras बना, इत्यादि।

(क्रमशः)

वैदिक देवतावाद का स्वरूप

वैदिक देवताओं का क्या स्वरूप है? यह प्रश्न अत्यधिक जटिल एवं विषम है। वेदों का अध्ययन करने वाले विद्वान् इस की जटिलता को अच्छी तरह जानते हैं। इसी के सम्बन्ध में मतभेद होने से विद्वानों की वेदों के सम्बन्ध में सम्मति का बड़ा भेद हो जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विचार करते हुए क्रमिक विकास ढूंढने का प्रयत्न किया है। प्रसिद्ध

विद्वान् प्रोफेसर मेंक्समूल्यर का कथन है कि आर्य लोगों ने जब प्राकृतिक घटनाओं को देखा तो उनके हृदय में यह स्वाभाविक प्रश्न उठा कि इन घटनाओं का कर्ता कौन है ? इस समस्या पर विचार करते हुए वे इसी परिणाम पर पहुंचे कि इन सब घटनाओं के पीछे एक २ एजन्ट (देवता) है, जो इस प्रकार के विविध कर्म कर रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने वर्षा का देवता इन्द्र, ज्योति का द्यौः, नील आकाश का वरुण, आग का अग्नि तथा विद्युत् और आंधी का रुद्र देवता माना। परन्तु पीछे से उन्हें उन में परस्पर सम्बन्ध दिखाई देने लगा और उन्होंने 'विश्वेदेवा' देवता की कल्पना करके सब देवताओं को एक श्रेणी में बांध दिया। तदनन्तर वे एक कदम और आगे बढ़े। उन्होंने देखा कि अग्नि देवता केवल इन्द्र और सविता के साथ कार्य ही नहीं करता, प्रत्युत कभी २ अग्नि अपने कई कार्यों द्वारा इन्द्र तथा सविता का रूप धारण कर लेता है। तब उन्होंने युग्म-देवताओं (Duel gods) की—इन्द्राग्नी, अग्निषोमौ, मित्रावरुणौ इत्यादि की कल्पना की। इसी प्रकार तीन और तीन से अधिक देवताओं का एकीकरण प्रारम्भ हुआ। इस एकीकरण को Syncretism नाम देते हैं वैदिक देवतावाद पर विचार करते हुए प्रो० मेक्समूल्यर ने एक नवीन शब्द का आविष्कार किया है। वह है Henotheism या Kathenotheism उनके कहने का तात्पर्य यह है कि शनैः २ आर्यों का दृष्टि कोण विशाल होता गया और वे एक २ देवता की शक्ति को विस्तृत रूप में देखने लगे। इस कारण जब वे इन्द्र अग्नि या वरुण की स्तुति करने लगे तो उस समय के लिए उसी एक देवता की ही एकमात्र सत्ता समझते हुए सब कुछ उसे ही बना देते थे और दूसरे देवताओं को भूल जाते थे। इस अनुभूति के कारण उन के विचार-क्रम में एक देवतावाद (Monotheism) तथा एकत्ववाद (Monism) का जन्म हुआ। इस प्रकार वैदिक आर्य लोग प्रकृतिक का निरीक्षण करते २ बहुदेवतावाद से क्रमशः एकत्ववाद पर पहुंचे। ऐसा ही प्रायः बहुत से पाश्चात्य विद्वानों का विचार है।

पाश्चात्य विद्वानों की उपर्युक्त विचारशैली का आधारभूत कारण वेदों में इतिहास मानना तथा विचारों का क्रमिक विकास स्वीकार करना है। इन दो दृष्टियों के मुख्य होने के कारण वे लोग इस तरह विचार करते आये हैं। परन्तु वे स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि कोई ऐसी प्रामाणिक कसौटी उन के पास नहीं जिस के आधार पर वे निश्चयपूर्वक कह सकें कि अमुक सूक्त पूर्व का है और अमुक सूक्तबाद का, मिस्टर H. W. Wallis अपनी पुस्तक 'The cosmology of Rigweda' में लिखते हैं कि Even if we were able to determine the dates of the hymns, we would still be very far from deciding the relative ages of the ideas contained in them. The cosmological guesses strung together in the other Vedic collections and even in Brahmans, occasionally bear a more premitive character than those in the Rigveda.' इस लिए जो विचार उन्नत न प्रतीत होते हों वे पहले के हैं, और जो उन्नत हों, वे बाद के होंगे, ऐसा भी हम आग्रह पूर्वक नहीं कह सकते। अत एव पाश्चात्य विद्वानों का वेदों में बहुदेवतावाद एक देवता या एकत्ववाद के प्रतिपादक मन्त्रों को देखकर ऐतिहासिक दृष्टि से एक विशेष क्रम का निश्चय करना प्रामाणिक नहीं समझा जा सकता। यदि इनके अन्दर परस्पर विरोध हों तो कथञ्चित् इनके पौर्वापर्य का विचार किया जा सकता है। परन्तु हमारी सम्मति में इन में कोई विरोध नहीं। इस लिये हम समझते हैं कि वेद में ऐतिहासिक क्रमिक विकास की कल्पना न करके तदनुसार बहुदेवतावाद एकदेवतावाद या एकत्ववाद आदि सिद्धान्तों का पृथक् रूप से प्रतिपादन करने की आवश्यकता है।

देवताओं का स्वरूप

वेदों में बहुदेवतावाद हैं, ऐसा प्रायः सभी विद्वानों का मत है। याज्ञिक सम्प्रदाय का भी यही मत है।

इस का कारण स्पष्ट है, क्योंकि निम्न मन्त्रों में बहुत से देवताओं की स्तुति की गई है। उदाहरणार्थः—

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन्॥ ऋ० ८।२८।१।

इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च। मनोर्देवा जज्ञियासः॥ ऋ० ८।३०।२।

त्रीणि शता त्री सहस्रा ण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।

औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त॥ ऋ० ३।९।९ तथा १०।५२।६।

परन्तु इन के अतिरिक्त बहुत से ऐसे मन्त्र हैं, जो एकदेवतावाद के प्रतिपादक हैं। यथा—

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।

तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्यदेव नमस्ते अस्तु-दिवि ते सधस्थम्॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

सनः पिता जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्याः॥

य एक इत्तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः। पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः॥

इन में बताया है कि वह देवता एक ही है। परन्तु कुछ मन्त्रों में बहुत से देवताओं का स्तवन करना और कुछ मन्त्रों में एक ही देवता का प्रतिपादन करना विरोधी प्रतीत होता है। अतएव कुछ विद्वान् दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का स्वतन्त्र अस्तित्व वेदों में स्वीकार करते हैं। परन्तु यदि वेदों का कुछ गंभीर पारायण किया जावे और इन देवताओं का व्यापक स्वरूप समझने का प्रयत्न किया जावे तो हम किसी अन्य परिणाम पर ही पहुंचेंगे।

इस समस्या का हल निम्न लिखित मन्त्रों से बड़े स्पष्ट रूप से हो जाता है। इन में इस बात पर प्रकाश डाला है कि देवता एक है या अनेक—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नं यमं मातारि-श्वानमाहुः॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्न भुवना यन्त्यन्याः॥

इन में बड़े स्पष्टरूप में उपर्युक्त समस्या को सुल-झा दिया गया है। वस्तुतः वह एक है, परन्तु ज्ञानी पुरुष उसे भिन्न २ नाम से पुकारते हैं। यह सब देवों के नाम को धारण करने वाला है अर्थात् सब देवताओं के नाम से उस की स्तुति की जाती है। यह क्यों? इस दृश्य प्रपञ्च (Phenomena) में जितनी शक्तियां हैं, उन्हें वेद में देवता नाम से पुकारा गया है (देखो यजु०) इसी कारण इन्द्र, मित्र, वरुण, आपः, अग्नि प्रभृति भौतिक पदार्थों में जो विशेष २ शक्ति है वह उस एक देव की दी हुई है, जो इस का अधिष्ठाता है। वह इन का प्राण है—'ततो देवानां समवर्ततासुरेकः' अग्नि में प्रकाश की शक्ति, विद्युत् में चमकने की शक्ति, आप में शीतलता की शक्ति उस सर्वशक्तिमान् एक सत्ता द्वारा प्राप्त है। अतएव वेद में बहुत से स्थानों पर उस परमात्मा को इन्द्र आदि नामों से पुकारा गया है। इस से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी एक देवता की स्तुति करते हुए कुछ समय के लिये उसे ही सब कुछ क्यों समझ लिया जाता है। वस्तुतः अग्नि

की स्तुति के समय आग में रहने वाले परिमित शक्ति वाले किसी अधिष्ठातृ देवता अग्नि की स्तुति नहीं की जा रही होती, प्रत्युत उस में भी प्राण देने वाले महान् देव की विभूति का वर्णन किया जा रहा होता है। इस लिये Henotheism आदि पृथक् नाम देने की विशेष आवश्यकता नहीं।

वैदिक देवतावाद को स्पष्ट करने के लिये निरुक्त-कार यास्काचार्यने इस प्रकार लिखा है—

"प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति महाभाग्याद्देवतायाः एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति"

अर्थात् वेद द्वारा यह स्पष्टतया देखा जा सकता है कि इस संसार का आत्मा एक है, परन्तु वह अपनी शक्ति के ऐश्वर्य के महत्व के कारण बहुत नामों से पूजा जाता है। उस एक महान् आत्मा के अन्य देव अंग प्रत्यंग रूप हैं।

इसी बात को ऋग्वेद में प्रकारान्तर से निम्न शब्दों में कहा गया है—

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वान-स्तन्वं परिस्वाम् ॥ ऋ० ३। ५३। ५८॥

रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति-च क्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते......॥

इस में बताया है कि वह अपनी शक्ति के प्रभाव से नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। इसी प्रकार अथर्ववेद में लिखा है—

मरुद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलि-लस्य पृष्ठे।

तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्ध परित इव शाखाः ॥ १०। ७। ३८॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजरे।... १०।७।८७

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गेः सर्वे समाहिता ॥ १०।७।१३

इस स्कम्भ सूक्त में अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिन में पुरुष या वृक्ष की उपमा देकर उस महान् आत्मा (स्कम्भ या यक्ष) तथा अन्य देवों में अंगागिभाव बताया गया है। इसी सूक्त में उस स्कम्भ के विराट् स्वरूप का वर्णन करते हुए इस संसार को शरीर तथा उसे शरीरी बताया गया है। जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा का प्रकाश या अभिव्यक्ति इस स्थूल शरीर द्वारा होती है। उसी प्रकार उस निराकार सर्वव्यापक महान् आत्मा का प्रकाश भी इस ब्रह्माण्ड (Cosmos) द्वारा ही सर्व साधारण को हो सकता है। जिस प्रकार इस शरीर में चेतनता तथा क्रिया उत्पन्न करने वाला आत्मा है, उसी प्रकार इस विराट् शरीर (संसार) में जीवन तथा क्रिया पैदा करने वाला वह महान् आत्मा है। सूर्य चन्द्र पृथिवी अग्नि आदि उस के अंग तुल्य हैं।

इन सब मन्त्रों के उपस्थित करने का अभिप्राय केवल इतना है कि वेद में बहुत से स्वतन्त्र देवताओं (gods) का प्रतिपादन नहीं। परन्तु वास्तव में एक महान् देव है जिस की शक्ति (माया या रूप) विविध रूपों में इस दृश्य प्रपञ्च (Phenomena) द्वारा प्रस्फुरित हो रही है और जिन २ पदार्थों द्वारा उस विभूति का अंश होने से उन्हें देव या देवता नाम से पुकारा गया है। वे अग्नि आदि देवता उस महती देवता के एजन्ट ही समझने चाहियें। हमारे इन भौतिक देवताओं को Natural Gods न कह कर Agents of phenomena ही कहना चाहिये। इसलिये इन इन्द्र आदि को महान् देव भी कह सकते हैं और उसके अंग भी। जिस प्रकार राजा के प्रतिनिधि राजकर्म-चारियों को राजा की मूर्ति (embodiment) भी कहते हैं और उस के अंग (Hands of government) भी।

इस लिये यदि हम वैदिक देवताओं के स्वरूप को इस तरह समझलेगें तो वेदों में बहुदेवतावाद, एक देवतावाद या एकत्ववाद का संमिश्रण दिखाई न देगा। परन्तु यह संसार एक जीवित शरीर (Liv-

ing organ) दिखाई देगा और इस का एक अधिष्ठाता अपनी भिन्न २ शक्तियों के साथ संसार का संचालन करता हुआ प्रतीत होगा। वस्तुतः इसी रूप में सर्वोच्च शक्ति (Higher Power) का स्वरूप मनुष्य समाज के लिये उपयोगी हो सकता है।

परन्तु इस प्रकार परमात्मा के सम्बन्ध में अंगागिभाव के वर्णन परमात्मा साकार या सीमित स्वीकार किया गया है। यह तो केवल आलंकारिक वर्णन है। वस्तुतः तो वह शरीर व इन्द्रिय रहित है। उदाहरणार्थ दो तीन मन्त्र पर्याप्त होंगे।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।

स पर्यगाच्छुक्रमकाय मव्रणमस्नाविरम्...।

न किः ददृशे इन्द्र इन्द्रियं ते...।

इसके अतिरिक्त पुरुष सूक्त में उस परमात्मा का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह परमात्मा केवल इस संसार में ही व्याप्त नहीं परन्तु वह तो वस्तुतः इस सारे संसार से भी बहुत बड़ा है। उसका केवल एकांश इस संसार में अपनी विभूति को प्रकाशित कर रहा है।

एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरुषः।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादो स्येहा भवत् पुनः।

ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा के विचार को बहुत सीमित नहीं किया गया। जहां महती शक्ति की अनुभूति कराने के लिये अंगांगिभाव से उस का वर्णन किया गया है, वहां साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वह परमात्मा केवल इस संसार में ही सीमित नहीं, वह तो असीम है। इस संसार से केवल उस के स्वरूप की कुछ झलक मिलती है; उस की महिमा के एकांश मात्र का प्रतिभास होता है। यही भाव स्कम्भ सूक्त में तथा कतिपय स्थानों में ओतप्रोत है। परन्तु यहां पर उसकी अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता न होने के कारण हम उसे यहीं छोड़ते हैं।

अन्त में, एक बात और कह कर हम अपने विषय को समाप्त करते हैं। कतिपय विद्वानों का ऐसा विचार है कि वेद में उपादान कारण की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन नहीं किया गया। ब्रह्म (चेतन तत्व) ने अपने सामर्थ्य मात्र से सृष्टि को रचा और उस में उसने प्रवेश कर लिया। परन्तु हमारी सम्मति में ऐसी बात नहीं। स्थान २ पर ऐसे बहुत से मन्त्र मिलते हैं, जिनमें एक निन्द्य उपादान कारण का निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र पर्याप्त हैं।

आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः।

अ० ४ । १ । १ ।

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव ॥

अ० १० । ८ । ३३ ।

आनीद वातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पर किंचनास॥

ऋ० १० । ११९ । २ ।

जिस प्रकार बीज के अन्तर्निहित एक बिन्दु रूप गर्भ ही विकसित होकर व आकार बनता है। उसी प्रकार इस जगत् में रोह होने की शक्ति उसी ब्रह्म की दी हुई है। वही ब्रह्म गर्भ रूप होकर प्रकृतिरूप उपादान कारण को बाह्य शरीर बनाकर विकसित होता है। ऋग्वेद में 'तत्वं वृधानः' इत्यादि जो प्रयोग आते हैं उनका अभिप्राय भी यही है कि वह परमात्मा प्रकृतिरूपी शरीर के विकसित होने के कारण 'बढ़ता हुआ' प्रतीत होता है।

यह विषय समय तथा स्थान की बहुत अपेक्षा करता है। परन्तु स्वल्प रूप में दिग्दर्शन करने के उद्देश्य से हमने अति संक्षेप से इस का कुछ विवेचन कर दिया है। यथावसर फिर कभी इस विषय पर विस्तृत विवेचन किया जाएगा।

राष्ट्रीय-क्रान्ति

(लेखक—श्री पं० प्रियरत्नजी)

यद्यपि राष्ट्रीय उन्नति के कारण राजा और प्रजा दोनों ही हैं, तथापि राजा मुख्य कारण है क्योंकि "यथा राजा तथा प्रजा" यह एक निश्चित सिद्धान्त है। राजा यदि उत्तम गुणसम्पन्न, प्रजाहितैषी, न्यायशील और हर प्रकार से योग्य तथा राष्ट्र की उन्नति का इच्छुक हो तो निःसंदेह प्रजा भी कार्यकुशल, राजभक्त, सन्तुष्ट, विद्याप्रिय और राष्ट्र-सेवा में तत्पर हो सकती है। राष्ट्रीय-क्रान्ति के सम्बन्ध में वैदिक सिद्धान्त की कुछ बातें इस लेख में लिखी जाती हैं। जिस प्रकार किसी परिवार में गृहपति के धार्मिक, सुविद्वान् और व्यवस्था आदि में कुशल होने पर ही परिवार की रक्षा आदि में वह समर्थ हो सकता है तथा पारिवारिक-जन भी ऐसे गृहपति की अनुमति के अनुसार सर्व प्रकार से योग्य होते हुए यथेष्ट सुखी रह सकते हैं, साथ ही जैसे परिवार के सुख के लिये परिवार के निर्वाह की आवश्यक अन्नादि वस्तुओं और निवासार्थ गृह आदि सामग्री का होना अत्यन्त उचित है ठीक इसी प्रकार राष्ट्ररूपी महत् परिवार के संचालन के लिये भी सुयोग्य राष्ट्र-पति और उत्तम प्रजा की तथा निर्बाध, सुरक्षित, और अनुकूल भू प्रदेश की आवश्यकता है। अर्थात् राष्ट्रोन्नति के कारण राजा, प्रजा और देश की व्यवस्थाएं हैं। वेद ने राष्ट्र संचालन के सम्बन्ध में अनेक आदेश किये हैं। हम यहां केवल दो चार मन्त्रों के द्वारा ही कुछ कथन करेंगे।

(१) सब से पहिली बात वेद हमें यह बताता है कि राजा का निर्वाचन (Election) प्रजा की ओर से होना चाहिये अर्थात् प्रजा या प्रजा का प्रतिनिधि विद्वन्मण्डल जिसको राजा बनने के योग्य समझे उसे उस निमित्त चुन ले। यथा—

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः। वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि यस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥

अथर्व० ३।४।२॥

(२) राजा को राज्याधिकार प्राप्त करके अभिमान न करना चाहिये। अपितु राष्ट्र संचालन को अपना कर्तव्य (Duty) समझ कर अपने नित्य और नैमित्तिक कर्मों को करते हुए दिन रात राष्ट्र संचालन तथा प्रजा-हित आदि का ध्यान रखना चाहिये। दिनचर्य्या का अनुष्ठान भी नियमित रूप से राजा करता रहे। तथा—

(३) स्वस्तिदा विशांपतिः वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः॥

अथर्व० १।२१।१॥

सदा प्रजा को सुख देने वाला चोर-डाकू-दुष्ट प्राणियों का नाश करने वाला, देश के अन्दर विप्लवकारक समाजों का वश करने वाला, अत्यन्त बलवान् सेनाबल से सम्पन्न, प्रत्येक आपत्ति के हटाने में अग्रसर, मद्यादि विषयों से रहित, सोम आदि औषधियों का पान करने वाला राजा राज्याधिकारी होता है।

(४) राजा को प्रजाजनों में समदृष्टि रखनी चाहिये, पक्षपात नहीं करना चाहिये। वही राजा चिर काल तक और प्रतिष्ठा के साथ राज्य कर सकता है जो सदैव प्रजाजन के हितके सम्पादन में और राष्ट्रोन्नति में तत्पर रहता है। वस्तुतः वही राजा प्रजा का हितैषी समझा जाता है जिसको देश, ग्राम तथा जंगल तक में प्रजा पीड़क जनों अर्थात् चोर आदि का भय न हो।

(५) ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः। उपस्तीन् पर्णमह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥

अथर्व० ३ । ५ । ६ ॥

अर्थात् राजा विद्या आदि सम्बन्ध में प्रजाजनों को अति योग्य बनाने के लिये विविध विद्याओं के शिक्षकों का संग्रह कर शिक्षणालय खोले और कला भवन आदि बनावे। बुद्धिसम्पन्न विद्वान्, विमान आदि यानों के बनाने वाले शिल्पी, दार्शनिक (Thinkers, Philosophers) और ऋषि महात्माओं का राष्ट्र में होना भी बड़ा आवश्यक है। यह एक सन्देश वेद का है।

(६) उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति। परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥

ऊपर के कथन के विरुद्ध जो क्रूर स्वभाव का राजा विद्वान् या संन्यासी को पीड़ा देता है उसका राष्ट्र अस्त व्यस्त हो जाता है। हाँ, सत्याचार आदि से रहित, अनपढ़, भिक्षा मांगने वाले देश के अन्दर न रहने चाहियें, बल्कि इस सम्बन्ध में राजा को उचित है कि जिस ग्राम में ऐसे लोगों को भिक्षा दी जाती हो उस ग्राम को भी दण्ड देवे।

(७) प्रत्येक प्रजाजन के लिये चाहे वह किसी भी कुल में क्यों न उत्पन्न हुआ हो, विद्याव्यसन आदि द्वारा उन्नति करने का अधिकार होना चाहिये और उसके लिये अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये। प्रजा को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि राजा तथा राज-कार्य और राजा की उन्नति में ही उनकी अपनी उन्नति भी है। इसलिये वे राजद्रोही बनने की चेष्टा न करें। हाँ जो राजा प्रजा के अधिकारी की उपेक्षा करे या प्रजा के दुःखों का प्रतिपादन न करे ऐसे राजा का त्याग तो अवश्य कर देना चाहिये। ऐसा विदुर जी का आदेश है।

(८) "यत् ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा सहाग्निना ॥"

यजु० २० । २५ ॥

जिस राष्ट्र या देश के अन्दर ब्रह्म और क्षात्र-बल अर्थात् जिस राष्ट्र में विद्या विज्ञान् तथा धर्म की योग्यता, और राजनीति, राज शासन तथा सैनिक बल की योग्यता साथ २ हों वही राष्ट्र या देश पुण्य सुखमय और विद्यासम्पन्न बन सकता है। अतएव राष्ट्र के अन्दर विद्यार्थ सभा, धर्मार्थ सभा और राजार्थ सभा की स्थापना होनी चाहिये। एवं तीनों सभाएं मिलकर राष्ट्र संचालन का कार्य करें।

(९) अपरञ्च निज देश में उत्पन्न हुए पदार्थों और गौ आदि प्राणियों की रक्षा तथा वृद्धि करना भी राष्ट्र की उन्नति का निमित्त है। इस प्रकार नानाविध विद्याओं के विद्वानों का होना राष्ट्रोन्नति में सहायक है। एवं भिन्न २ शस्त्रास्त्रादि आयुधों की और उनसे युक्त सैनिक वीरों की सत्ता की भी राष्ट्र में आवश्यकता है। तथा सेना विभाग के अन्दर भी समिति समानी अर्थात् प्रत्येक सैनिक का वेश आदि समान होने चाहियें।

(१०) तथा राष्ट्रभाषा की एकता भी राष्ट्रोन्नति का हेतु है। जो भाषा राष्ट्र के अन्दर सर्वत्र सुगमता से प्रयुक्त की जा सके वह राष्ट्र भाषा होनी चाहिये। भारतीय प्रजा को आर्यभाषा (हिन्दी हिन्दुस्तानी) राष्ट्रभाषा बनानी चाहिये। यही भाषा भारतवर्ष में अधिक वर्ती जाती है। सब में सरल है तथा सब प्रान्तों में अल्प प्रयत्न से ही आ सकने वाली है।

आत्मा

[ले० श्री० पं० महेशानन्दजी, ओझा, न्याय-सांख्य-योग-शास्त्री]

आत्मा की अन्वेषणा करना भारतीयों का परम कर्तव्य रहा है। भारत की सभ्यता और संस्कृति का मूल आधार आत्मा ही है। आत्मा का साक्षात्कार करने के हेतु यहां के साधारण भी मनुष्य भगीरथ प्रयत्न द्वारा आत्मज्ञानी होने का पूरा पूरा यत्न करते रहे। आत्मसंस्कारों की प्रबलता से ही भारतीयों के अन्दर और खास कर आर्यों के अन्दर दया तथा धर्म का भाव आजतक हम अक्षुण्ण दशा में पाते रहे। यहां के आबाल वृद्ध कुछ न कुछ आत्मा के विषय में ज्ञान रखते ही हैं। वैदिक काल में नचिकेता (मूर्ख अज्ञानी) (न चिकेतो यस्य) तक आत्मा के यथार्थ स्वरूप जानने के लिए कालरूप यम के पास जाते थे और आत्मज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों को करते थे। यथा—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतत् विद्यामनुशिष्ट स्त्वयाहं वराणामेष वर स्तृतीयः ॥

"जो यह मरे हुए मनुष्य के विषय में सन्देह है— कई कहते हैं कि आत्मा है और वह शरीर इन्द्रियादियों से पृथक् है तथा मरने के बाद भी रहता है, तथा कई यह कहते हैं कि यह आत्मा शरीर से अलग नहीं है, और न मरने के पीछे ही रहता है। मैं तुमसे अनुशासन (शिक्षा) पाया हुआ इस आत्मा के होने न होने को जानूं यह वरों में मेरा तीसरा वर है"।

आत्मा के यथार्थ ज्ञान के सिवाय भारतवासी आर्यों के लिए संसार में तथा स्वर्ग में कोई दूसरी पाने योग्य चीज़ नहीं समझी जाती रही। अज्ञानी नचिकेता को ही लीजिए। यम ने इस आत्मा को समझाने के बदले "शतायुषः पुत्र पौत्रान् वृणीष्व" सौ सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र और पौत्र, सुनहरी झूलों वाले हाथी, और भी संसार में जो जो वांछित पदार्थ दुर्लभ हैं उन सबको नचिकेता की इच्छानुसार उसे देना चाहा परन्तु आत्मा के लिए पागल बने नचिकेता ने "तव एव वाहा तव नृत्यगीते" तेरे ही लिए ये सब महल बाड़ियां तथा बाग़-बगीचे मुबारक हों कहकर उन सब को ठुकरा दिया। यह था भारत का आत्मा के लिए पागलपन। प्राचीन आर्य आत्मज्ञान की बलि-वेदी पर अपनी वांछनीय मनोरंजक वस्तुओं की कुर्बानी करते रहे हैं। ऋषि महर्षियों ने तपोभूमि में जाकर कठिन कठिन तपस्यायें आत्मा के स्वरूप समझने के ही लिए की हैं। यथा—

"तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ॥

दर्शनकारों ने पवित्र सलिला भगवती भागीरथी का जल पी पी कर तथा शीतल सुगन्ध समीरण का सेवन करके इसी आत्मा को समझने का प्रयास किया। वेद और पुराणों में इसी आत्मा को, कहीं पर साक्षात् और कहीं पर अलंकार रूप से, जैसा जिस आचार्य ने समझा उसी तरह बतलाने का पूरा यत्न किया। आचार्य के समीप जब जिज्ञासु शिष्य बन कर जाता है तो आचार्यदेव उसे "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" उसे ढूंढो, उसे पहिचानो, कहकर आत्मा का ही उपदेश करते थे। "भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" अर्थात् बुद्धिमान् लोग सब प्राणियों में इस आत्मा को पहिचान कर इस शरीर से रहित होकर जन्म मरण से भी रहित होजाते हैं। आत्मा को जिस ने समझ लिया वही सुखी गिना जाता था।

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्तीति ॥ एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणा

याश्च वित्तैषणा याश्च लोकैषणा याश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" ।

इस आत्मा को ही जान कर ब्राह्मण निश्चय से पुत्र की कामना से, धन की कामना से, और लोक की कामना से ऊपर उठ कर भिक्षावृत्ति से अपना जीवन निर्वाह किया करते थे । आत्म ज्ञान को प्राप्त करने के लिए गृहस्थ छोड़ते हुए बुद्धिमान् याज्ञवल्क्य ने अपनी दो धर्मपत्नियों में झगड़ा न हो यह समझ कर बंटवारा करने की ठानी । उनके धन विभाग विचार को सुन कर उनकी विदुषी स्त्री ने जिसका नाम मैत्रेयी था, कहा कि हे भगवन् ! यदि मेरे पास निश्चय ही यह पृथिवी धन से भरपूर हो तो मैं उससे अमृत हो सकूंगी या नहीं ?, इस को बतलाइए इस गहरे प्रश्न को सुन कर याज्ञवल्क्य ने कहा कि-जैसा दूसरे धनवानों का जीवन है उसी भांति तेरा भी होगा "अमृतत्वस्य तु न आशास्ति वित्तेन" धन के ज़रिये अमृतपन की आशा नहीं की जा सकती । इस बात को सुन कर जो मैत्रेयी ने कहा वह ही-उत्तर न समझना चाहिये अपितु उसे समस्त आर्य जाति की एक स्वर में पुकार समझनी चाहिये, जिसे सुन कर कि बड़े से बड़े विद्वान् दांतों के नीचे अंगुली दबाये विना नहीं रह सकते ।

"येनाहं नामृता स्यां तेन किं कुर्याम् यद् एव भगवान् वेत्थ तत् एव मे विब्रूहि इति" ।

अर्थात् जिससे मैं अमृत नहीं हो सकती उस धन से क्या करूंगी, जो ही अमृतत्व का साधन आप भगवान् जानते हैं उसे ही मुझ से खोलकर कहें" । इस प्रकार की आत्मिक भावनाएं प्राचीन आर्यों की थीं जिन्हें आजकल हम भूल गये हैं ।

हमारे दार्शनिक विज्ञान को आज का बीसवीं शताब्दी का विज्ञान नहीं प्राप्त कर सका । आत्मा की छानबीन जो भारतीय दर्शनों में की गई है, उस तक पहुंचना अभी युरोप की शक्ति से बाहर है । किन्तु यह बड़े ही हर्ष की बात है कि पाश्चात्य विज्ञान शनैः शनैः हमारे मार्ग का अवलम्बन करता हुआ वैदिक एवं आर्ष विज्ञान को अपना रहा है ।

इस आत्मा के विषय में अनेक मतभेदों को आपाततः देख कर कई लोग आर्ष विज्ञान की दिल्लगी उड़ाने में जरा भी नहीं हिचकते परन्तु आर्षग्रन्थों में मतभेद का नामो निशाँ भी नहीं है इस बात को हम खम ठोक कर कह सकते हैं । जिन लोगों को आत्मा के सम्बन्ध में आर्षग्रथों के अन्दर मतभेद की बू आती है वे सर्वथा भ्रान्ति में हैं । वह मतभेद नहीं जिसे वे मतभेद समझ कर हेय समझे बैठे हैं, किन्तु अधिकारी के भेद से शाखा द्वारा चन्द्रदर्शन न्याय के द्वारा वह सब परस्पर सुसम्बन्धित ही हैं । जिस प्रकार कम नजर वाले मनुष्य को लोक में द्वितीया तिथि के अभिनवोदित चन्द्रमा को वृक्ष की टहनी के सहारे दिखाया करते हैं इसी प्रकार क्रमशः अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन आदि के क्रम को दिखाकर अन्त में जैसा भी वास्तविक स्वरूप आत्मा का है उसको बोधन कराते हुए भारतीय दर्शन आत्मतत्व को, पल्लवित पुष्पित और फुल्लित करते हैं ।

यद्यपि "अहं सुखी अहं दुःखी" मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूँ इस प्रकार के अनुभव से आत्मा स्वयंसिद्ध वस्तु है । क्योंकि अहं सुखी अहं दुःखी अहम् इस प्रकार का मानस सुख दुःख का प्रत्यक्ष आत्मा के सिवाय अन्य अर्थात् शरीर या इन्द्रिय आदि को कभी भी लागू नहीं हो सकता वह सभी आस्तिक दर्शनकारों को अभीष्ट है, तो भी 'धर्मं प्रति विप्रतिपन्ना बहुविधाः' अर्थात् धर्मी में सन्देह के न होने पर भी धर्म में बहुतों को सन्देह हुआ करता है इस प्रामाणिक वचन के अनुसार आत्मा के अस्तित्व में अनेक प्रकार के संशय होते रहते हैं । इस संशय का मूल आधार विप्रतिपत्ति है । (एक ही प्रयोजन में अनेक व्याघात या विरोधों का होना विप्रतिपत्ति कहलाता है) और इस विप्रतिपत्ति से साधारण जनों का मस्तिष्क चक्र में पड़ जाता है । किसी का कहना है कि चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है । देह से पृथक् कोई आत्मा

नहीं है। किसी ने आंख कान आदि इन्द्रियों को ही आत्मा माना, कोई आचार्य अन्तःकरण को ही आत्मा समझ बैठे हैं।

बौद्धों के मतानुसार विज्ञानधारा ही आत्मा है। बुद्धि और सुख दुःख आदि आश्रय आत्मा है और यह कर्ता तथा भोक्ता है इस प्रकार न्याय-वैशेषिक का मत है सांख्य मत में केवल भोक्ता ही आत्मा है कर्तृत्वादि गुण उसको छुए तक नहीं। चिन्रूप, कर्तृत्वादि धर्म्मरहित, परमात्मा से अभिन्न आत्मा है यह नवीन वेदान्तियों का कहना है। इस प्रकार के अनेक मतवाद आत्म-जिज्ञासु पुरुष को चक्र में फंसा देते हैं किन्तु जिन्हें सन्देह होने पर भी आत्मा के यथार्थ स्वरूप जानने की लगन है, आत्मसाक्षात्कार करने की धुन है, वे मनुष्य अवश्य ही आत्मा के यथार्थ रूप को समझकर "प्राप्तं प्रापणीयम् क्षीणाः क्लेशाः" इस प्रकार के आलापों में मग्न हो विचरते हैं। बात यह है कि सन्देह का होना भी तत्व बात को यथार्थ बतलाने वाला होता है। बिना सन्देह के किसी खास तत्त्व के अनुसन्धान में प्रवृत्ति नहीं होती।

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनराऽऽरुह्य यदि जीवति पश्यति॥

जैसा ऊपर लिखा गया है कि आत्मा के सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियां हैं। उन सबको एक ही बार लिख कर समझना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। अतः क्रमशः उपरोक्त मतों की आलोचना हम वैदिक विज्ञान के भक्त महाशयों की भेंट किया करेंगे। इस लेख में न्याय और वैशेषिक दो आस्तिक दर्शनकारों का संक्षिप्त मत लिखकर लेख को समाप्त किया जायगा। न्याय और वैशेषिक इन दो दर्शनों में प्रतिपाद्य विषय एक ही है। न्याय के आदि आचार्य गौतम तथा वैशेषिक के प्रवर्तक कणाद मुनि एक ही पक्ष के माने जाते हैं। न्याय और वैशेषिक मतानुसार आत्मा स्वभावतः[1] जड़ है, किन्तु मन के संयोग से उसमें चेतना शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है, तथा आत्मा विभु नित्य और निरवयव है। आत्मा शरीर में रहकर सुख दुःखों का अनुभव करने लग जाता है प्रत्येक शरीर की आत्मा इस मत में अलग अलग है। ज्ञानादि गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इनके मत में यह समवाय सम्बन्ध अर्थात् द्रव्य और गुण का सम्बन्ध नित्य है। ज्ञान एक गुण है, गुण का आश्रय द्रव्य ही हो सकता है। जिस तरह रूप किसी घट पट द्रव्य में ही रहता है उसी भांति ज्ञान का होना पृथिवी आदियों में सम्भव न होने से 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' ज्ञान का आधार समवाय संबंध से आत्मा माना जाता है। ज्ञान उपलक्षण मात्र है ज्ञान के साथ ही साथ सुख दुःख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न धर्माधर्म ये आत्मा के विशेष गुण माने जाते हैं और इनके द्वारा आत्मा का अपने शरीर में मानस प्रत्यक्ष होता है और दूसरे के शरीर में उसका चेष्टा आदि द्वारा अनुभव होता है। क्योंकि दूसरे के शरीर में जो चेष्टा होती है वह चेतन के प्रयत्न बिना नहीं हो सकती। जिस प्रकार हित को चाहने के लिए और अहित को छोड़ने के लिए अपने शरीर में चेष्टा होती है वह बिना चेतन के नहीं होती उसी प्रकार दूसरे के शरीर में भी चेष्टा चेतन बिना नहीं बन सकती इस प्रकार जो चेतन सिद्ध होता है वही आत्मा है।

इस प्रकार अनुमान से आत्मा सिद्ध होता है। आत्मा पहले जानता है फिर उसको चाहता है और तब यत्न और चेष्टा करता है। इसलिए कारिकावली में कहा है—धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेष गुणयोगतः धर्माधर्म का अध्यक्ष आत्मा है और बुद्धि सुख दुःखादि विशेष गुण के सम्बन्ध से आत्मा का प्रत्यक्ष हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार 'इच्छा द्वेष प्रयत्न

[1]—इस विचार में मतभेद है। कइयों का विचार है कि इनके मत में भी चेतना दो प्रकार की है। एक स्वाभाविक चेतनता और दूसरी इन्द्रिय मन और आत्मा के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न चेतनता। यह अन्तिम चेतनता जीवात्मा में उत्पन्न होती रहती है और नष्ट भी होती रहती है। इस दृष्टि से सम्भवतः जीवात्मा को जड़ भी कहीं कहीं कहा जाता है। —सम्पादक

सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्' न्याय सूत्र अध्याय १ आन्हिक १ सूत्र १० द्वारा भी प्रतीत होता है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख और ज्ञान ये सब आत्मा के लिंग हैं, चिन्ह हैं। इसी प्रकार—

प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रिया-न्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्म गुणाः। वैशेषिक दर्शन अध्याय ३ आन्हिक २ सूत्र ४ का सूत्र इस सम्बन्ध में जानना चाहिये।

जिस प्रकार लकड़ी आदि के काटने का साधन कुल्हाड़ा आदि, विना कुल्हाड़ा चलाने वाले कर्ता के एक तिनका भी नहीं काट सकता उसी प्रकार ज्ञान के कारण आंख आदि इन्द्रियां, बिना कर्ता के किसी भी ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकतीं। इस अकाट्य नियम से कोई न कोई गुणभूत-ज्ञान का आश्रय आत्मा स्वीकार करना पड़ेगा। आत्मा को सिद्ध करने के लिए न्याय वैशेषिक की यह युक्ति है। यदि चार्वाक मतानुसार चेतना (ज्ञान) का आश्रय शरीर मानें तो यह ठीक नहीं और न युक्ति युक्त है क्योंकि किन्हीं दो वस्तुओं में कार्य कारण मानने से पहले अन्वय और व्यतिरेक का विचार करना आवश्यक होता है। किसी के होने पर होना यह अन्वय कहलाता है, और किसी के न होने पर नहीं होना यह व्यतिरेक कहलाता है 'यत्सत्वे यत्सत्वमन्वयः यद-भावे यदभाव व्यतिरेकः' इस नियम से यदि शरीर के रहने पर ज्ञान सुख दुःख होता और शरीर के नाश होने पर न होता तब तो चार्वाक का मत किसी तरह स्वीकार भी किया जा सकता परन्तु मरने के बाद शरीर की विद्यमानता में भी पहले की तरह सुख दुःख नहीं होते। शरीर तो है पर सुख दुःख हिलना फिरना नहीं। इससे अन्वय व्यतिरेक न मिलने के कारण शरीर का गुण चेतना नहीं बन सकता। श्री विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ने कहा भी है—शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः। जो लोग शरीर को चेतनाश्रय मानने को कटिबद्ध हैं उन पर और भी आपत्ति है वह यह कि शरीर में आहार विहार के हिसाब से मांस रुधिर की घटती बढ़ती होती रहती है और इस घटती बढ़ती के साथ प्रतिक्षण शरीर में परिवर्तन होता है उप चयापचय प्रबन्ध दर्शना-च्छरीरादिषु (न्याय वात्स्यायन भाष्य) तब बाल्या-वस्था के अनुभवों और खेलों का स्मरण वृद्धावस्था में नहीं होना चाहिए। क्योंकि जो अनुभव करने वाला होता है वही स्मरण भी करता है।

अनुभव और स्मरण का सामानाधिकरण्य का नियम सर्वत्र लागू होता है। अन्यथा पिता के विवाह के अनुभवों को लड़का स्मरण करने लगेगा। पर ऐसा कभी नहीं हो सकता। बाल्यावस्था का शरीर वृद्धावस्था में नहीं रहता परन्तु बाल्यावस्था के अनुभवों का स्मरण वृद्धावस्था में भी होता है। अब शरीराश्रय चैतन्य मानने पर ये सब शरीर के नाश के साथ ही साथ नष्ट हो जायंगे। पर ऐसा लोक में नहीं दीखता। यहां उल्टी ही बात होनेसे स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीराश्रय ज्ञान नहीं, किन्तु आत्माश्रित है।

इसी प्रकार सन् ११२८ में किसी ने मथुरा में किसी को आंख से देखा, उसके पीछे उसकी आंख किसी रोग से फूट गई, तब १९३२ में वह ही जिसे उसने मथुरा में देखा था उससे लाहौर मिला, उससे हाथ मिलाया, उसके पीछे वह अन्धा कहने लगता है 'तमेवेदानी महं स्पृशामि यम् मथुराया मद्राक्षम्' उसका स्पर्श मैं इस समय कर रहा हूं जिसको मैंने लगभग पहले मथुरा में देखा था। अब पाठक महा-शय विचारिये यहां पर वह आंख तो है नहीं जिसने उसे पहले देखा था तो भी स्मरण होता है, और साथ ही एक यह नियम है नान्यदृष्टमन्यः स्मरति एक के देखे को दूसरा याद नहीं कर सकता, पर यहां पर स्मरण और स्पर्शन होता है इसलिए इन्द्रिय और शरीरसे अलग कोई ऐसी वस्तु मानो जो सन् १९२८ में भी थी और १९३२ में भी है। यह आत्मा ही हो सकता है। यथा—

दर्शन स्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणात्

न्याय दर्शन अ० ३ आ० १ सूत्र १

ऋग्वेद में इतिहास के स्थल

आलोचना

लेखाङ्क (१)

ले०—वेदभाष्यकार श्रीयुत पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ)

(१) वेद और उसमें इतिहास है यह एक स्थापना है। जिसको लोग कह देते हैं। परन्तु उनको यदि सिद्ध करने के लिये कह दिया जाय तो यह उनके लिये बड़ी भारी समस्या हो जाय। कारण कि वे किसी एक सूक्त में भी पांच या आठ वाक्य सुसम्बद्ध कथा के नहीं दिखा सकते। तब जिस ग्रन्थ में इतिहास की ऐसी स्थिति है उसमें इतिहास मानना कितनी मूढ़ता की बात है।

(१) जब कोई लेखक या विद्वान् वेद से इतिहास बतलाने लगता है वह वेद का प्रमाण पीछे देता है परन्तु अन्य कथाग्रन्थ, पुराण इतिहास आदि की कथाओं के अंशों को अपना ध्येय बनाकर फिर उनके साथ मिलते-जुलते वाक्यों और नाम शब्दों को देखकर वेद में इतिहास की कल्पना करने लगता है। फल यह होता है कि कोई दो लेखक भी वेद में आये कथा प्रसंग को एक समान वर्णन नहीं करते। यदि वेद मन्त्रों में कथा का अंश होता तो उसका विवरण भी सर्वत्र समान होना आवश्यक है।

(३) जिन १ सूक्तों में इतिहास बतलाया जाता है उनमें ११-१२ मन्त्रों से अधिक नहीं है और जिस कथा की कल्पना उसमें से ऐतिहासिक चक्षु वाले प्रवीण जन निकालते हैं वे उन मन्त्रों में से तीन चार मंत्र भी सम्बद्ध कथा प्रसंग के नहीं दिखा सकते। ऐसी स्थिति में वेद में इतिहास मानना एक मूर्खता और अनभिज्ञता नहीं तो क्या है।

(४) आजकल इतिहास के अन्वेषकों ने इतिहास खोजलेने के बहुत से और भी उपाय कररखे हैं। जैसे, कोई नाम आया उसके आधार पर मनमानी कल्पना कर बैठते हैं। न उनको वेद की भाषा का ज्ञान है, न व्याकरण का, वे कुछ शब्दों को लेकर कूदते रहते हैं और लक्षों वर्ष पूर्व के पुस्तक के समझने के लिये वे १८ वीं सदी के ऐसे विद्वान् के वचनों को प्रमाण मान लेते हैं कि जो स्वयं उन २ स्थलों पर सन्देहवान् हैं। तब उसकी टेक लेकर यदि कोई योरोपियन कुछ लिख दे तो फिर वर्तमान अंग्रेजी पढ़े भारतीय लोगों के लिये उसका लिखा तो वेद वचन से भी अधिक प्रमाण होजाता है और वेद और उसके व्याकरण निरुक्त आदि अंग तुच्छ हो जाते हैं।

(५) इन सब बातों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि वास्तव में वेद में इतिहास बतलाने वाले उच्छृंखलवादी लोग कितनी गहरी भूल में हैं। हम मान लेते हैं कि कदाचित निरुक्तकार यास्क के समय में भी ऐसा ऐतिहासिकपक्ष था। और वह वेदों में इतिहास ही बतलाता था, पर इससे यह सिद्धनहीं होता कि उस समय के ऐतिहासिकवादी लोग उच्छृंखल नहीं थे। उस समय भी लोग वेद के गहरे अर्थों को न जानने वाले वर्तमान के समान दूसरी कोटि के उछृंखल वादी रहे होंगे जिनको निरुक्तकार यास्काचार्य सदृश विद्वान् कोई महत्व नहीं देते थे। जैसे कर्मकाण्डों में मन्त्रों का विनियोग सहस्रों स्थानों पर प्रौढिवाद से योंही अबुद्धिपूर्वक हुआ है और निरुक्तकार ने मन्त्रार्थ करने में नाना-देववादी याज्ञिकों को तुच्छ कोटि में डाल रखा है उसी प्रकार ऐतिहासिकों को भी वेदार्थ विचार में मुख्य पद प्राप्त नहीं हो सका। और न आगे ही हो सकेगा। क्योंकि वेद का मुख्यार्थ तो ज्ञान प्रतिपादन है और ज्ञान भी कौन सा, जो त्रिकाल में सत्य हैं, जिसके आश्रय पर यह संसार भी सत्य है।

(६) वेद के सिद्धान्त बतलाने वाले ग्रन्थ वेदान्त अर्थात् उपनिषद् ग्रन्थ हैं उनके ही बीच में वेदों के लिये यह लिखा गया है—"सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति" अर्थात् समस्त वेद मुख्य रूप से उस परमेश्वर ओ३म् का ही स्वरूप वर्णन करते हैं। तब ऐसी दशा में ब्रह्मतत्व ही मुख्यार्थ है और सब अर्थ गौण हैं। अस्तु इतनी भूमिका के अनन्तर अब हम वेद के एक सूक्त को लेते हैं जिसमें इतिहास का प्रसंग बतलाया जाता है और उसका ऐतिहासिक रूप रखकर फिर उस पर विवेचन करेंगे। हमें पूर्ण आशा है कि पाठकगण इस इस विवेचन पूर्ण लेखमाला का धैर्य से स्वाध्याय करेंगे। और मेरे परिश्रम को सफल करने की इच्छा से यही यत्न करेंगे कि मैं इस लेखमाला द्वारा ऋग्वेद के समस्त ऐतिहासिक स्थलों की विवेचना आप लोगों की भेट कर सकूं।

राजा भावयव्य और रोमशा की कथा

[ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १२५, १२६]

राजा भावयव्य 'स्वनय' की कन्या ऋग्वेद के मण्डल १, सू० १२५, १२६ में बतलाई जाती है। इन सूक्तों के भीतर ऐतिहासिक अंश है इस बात को बतलाने वाला। सबसे प्रथम लेखक वृहद्देवताकार शौनक है वृहद्देवता ने (अ० ३-१४२ १५६) इस सूक्त को लक्ष्य करके नीचे लिखे श्लोक लिखे हैं। जिनको हम पाठकों की सुगमता के लिये अर्थ सहित देते हैं।

अधिगम्य गुरोर्विद्यां गच्छन् स्वनिलयं किल।
कक्षीवान् अध्वनि श्रान्तः सुष्वापारण्यगोचरः॥

अर्थ—कक्षीवान् गुरु से पढ़कर अपने घर को जाते हुए, मार्ग में थक कर जंगल के बीच सोगया।

तं राजा स्वनयो नाम भावयव्यसुतो व्रजन्।
क्रीडार्थं सानुगोऽपश्यत् सभार्यः सपुरोहितः॥

अर्थ—भावयव्य के पुत्र राजा स्वनय ने आखेट क्रीड़ा के निमित्त अपने अनुचरों और स्त्री और पुरोहित सहित जाते हुए स्वयं उस (कक्षीवान्) को देखा।

अथैनं रूपसंपन्नं दृष्ट्वा देवसुतोपमम्।
कन्यादाने मतिं चक्रे वर्णगोत्राविरोधतः॥

अर्थ—उसके पश्चात् उस (कक्षीवान्) को देव पुत्र अर्थात् राजपुत्र के समान रूपवान् देखकर वर्ण और गोत्र का विरोध न करते हुए, कन्या देने का संकल्प किया।

सम्बोध्यैनं स पप्रच्छ वर्णगोत्रादिकं ततः।
राजन्नाङ्गिरसोऽस्मीति कुमारः प्रत्युवाच तम्॥

अर्थ—उस (राजा ने) इस (कक्षीवान्) को बुलाकर वर्ण गोत्र आदि विषयक प्रश्न किया। इस पर कुमार ने उत्तर दिया—'राजन् मैं आङ्गिरस हूं।'

पुत्रोऽहं दीर्घतमसः औचथ्यस्य ऋषेर्नृप।
अथास्मै स ददौ कन्या दशाभरणभूषिताः॥

अर्थ—हे राजन्! मैं उचथ्य ऋषि के पुत्र दीर्घतमा का पुत्र हूं। इसके बाद उसने इसको आभूषणों से सजी दश कन्याएं दीं।

तावतश्च रथान् श्यावान् वीड्वङ्गान् वै चतुर्युजः।
वधूनां वाहनार्थाय धनकुप्यमजाविकम्॥
निष्काणां वृषभाणां च शतं शतमदात् पुनः॥
एतदुत्तरसूक्तेन शतमित्यादिनोदितम्।

अर्थ—उसने उतने ही अर्थात् १० तीव्रगतिवाले सुदृढ़ाङ्ग चौघोड़े, रथ उन नववधुओं को ले जाने के लिये, और धन, सुवर्ण, बकरी, भेड़ आदि भी दिये। साथही १०० मोहरें और १०० बैल भी दिये। यह बात उत्तर सूक्त से वेद में 'शतम्०' इत्यादि मन्त्र से कहा है।

शतमश्वान् शतं निष्कान् रथान् दश वधूमतः।
चतुर्युजो गवां चैव सहस्रं षष्ट्युपाधिकम्।
स्वनयाद् भावय व्यात्ः कक्षीवान् प्रत्यपद्यत॥
प्रतिगृह्य च तुष्टाव 'प्रातः' पित्रे शशंस च॥

अर्थ—सौ घोड़े, सौ मोहरें, दस वधुओं सहित चार २ घोड़े वाले रथ, और वा १०६० गौवें कक्षीवान् ने भावयव्य स्वनय से प्राप्त कीं और लेने के अनन्तर प्रशंसा की और 'प्रातः०' इत्यादि सूक्त कहा और अपने पिता के प्रति भी प्रशंसा की।

यह कथानक शौनकाचार्य के मत में जिस प्रकार है वह पाठकों ने पढ़ लिया परन्तु इस कथानक के साथ सूक्त का क्या विशेष सम्बन्ध है इस विषय में बृहद् देवता में लिखा है—

फलप्रदर्शनं तस्य क्रियते प्रायशस्त्विह ।
द्वितीयां तु पिताऽपश्यत् सुगुरित्यादिकामृचम् ॥

अर्थ—यहां (१२५ वें सूक्त में) प्रायः फल दर्शाया गया है। और ऋचा 'सुगु०' इत्यादि (१।१२५।२) उसके पिता ने देखी है।

काक्षीवतं सर्वमिति भगवानाह शौनकः ।
एषा तु दैर्घतमसी सानुलिङ्गा कथं भवेत् ॥
उच्यते प्रातरित्युक्ते सूनोर्दानेन हर्षितः ।
राज्ञश्चाशिषमाहाथ सुगुरित्यादिना किल ॥

भगवान शौनक के मत में सारा सूक्त कक्षीवान् का कहा है, परन्तु मन्त्र में आगत लिङ्ग के अनुसार दीर्घतमा का यह पूरा सूक्त कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है, जब 'प्रातः०' यह ऋचा कक्षीवान् ने कही तो पुत्र (स्वनय) के हाथ से प्राप्त दान से प्रसन्न होकर पिता (दीर्घतमा) ने 'सुगु०' इस ऋचा से राजा को आशीष कही।

कर्माणि याभिः कथितानि राज्ञां
दानानि चोच्चावचमध्यमानि ।
नाराशंसीत्यृचस्ताः प्रतीयात्
याभिस्तुतिर्दाशतयीषु राज्ञाम् ॥

जिन ऋचाओं से राजाओं के कर्म और नाना प्रकार के छोटे बड़े और मध्यम श्रेणी के दान कहे हैं उन ऋचाओं को और जिन ऋचाओं से राजाओं की स्तुति है उनको भी ऋग्वेद में नाराशंसी ऋचाएं जाने।

पञ्चामन्दान्भावयव्यस्य गीता जायापत्योः संप्रवादो द्वृचेन ।
संप्रवादो रोमशयेन्द्रराज्ञोर्द्वे ते ऋचौ मन्यते शाकपूणिः ।

'अमन्दान्०' इत्यादि पांच (१।१२६।१-५) ऋचाए भावयव्य की स्तुति हैं। शेष दो ऋचाओं में पति-पत्नी का संवाद है। और शाकपूणि आचार्य का मत है कि उन दो ऋचाओं में इन्द्र और राजा दोनों का रोमशा के साथ संवाद है।

इन्द्रेण जायापत्योश्चेतिहासं
द्वृचेऽस्मिन्मन्यते शाकटायनः ।
प्रादात्सुतां रोमशां नाम नाम्ना
बृहस्पतिर्भावयव्याय राज्ञे ।

शाकटायन आचार्य इन दो ऋचाओं में इन्द्र के साथ स्त्री पुरुषों का इतिहास मानता है। बृहस्पति ने भावयव्य नाम राजा को रोमशा नाम कन्या प्रदान की थी।

इस (१।१२५ सू०) के सम्बन्ध में अनुक्रमणिका में लिखा है—"प्रातारत्नं सप्त स्वनयस्य दानस्तुति रुपजगौ।" 'प्रातारत्नं०' इत्यादि सात मन्त्र 'स्वनय' की दानस्तुति में कहे हैं।

सायण ने इस सूक्त का भाष्य करते हुए उत्थानिका में इस प्रकार लिखा है—

"अत्रेतिहासमाचक्षते। दैर्घतमसः कक्षीवान् नाम ऋषिः ब्रह्मचर्यं चरिष्यन् वेदाभ्यासाय गुरुकुले चिरकालमुषित्वा वेदान् सम्यगधीत्य व्रतानि चरित्वा तेनानुज्ञातः पुनः स्वगृहं प्रति प्रयास्यन् मध्येमार्गं रात्रौ विश्रान्तः। प्रभाते भावयव्यस्य पुत्रः स्वनयो नाम राजा अनुचरैः सह क्रीडमानोऽकस्मात्कक्षीवतोन्तिकमाससाद। स च रभसाप्रतिबुद्धः सहसोत्तस्थौ। तं च राजा पाणिं गृहीत्वा स्वकीयमासनमुपवेश्यास्य सौन्दर्यमवगत्य स्वकन्याप्रदानमनाः पप्रच्छ भगवन् कस्य पुत्रः किंनामा त्वमिति। सच पृष्टो मातरं पितरंच स्ववृत्तान्तं आचचक्ष सच राजा संभाव्य इत्यवगत्य मुदितमनाः स्वगृहं प्राप्यास्मै मधुपर्कमारचय्य वस्त्रमाल्यादिभिः पूजयित्वा सरथाः दश कन्याः शतं निष्कान् अश्वशतं पुंगवानां शतं गवां षष्ट्युत्तर सहस्रं पुनरेकादशरथांश्च प्रादात्। सच सर्वमनुक्रमेण प्रतिगृह्य दीर्घतमसोन्तिकमागत्य तस्मै प्रादर्शयत्। ....सच कक्षीवान् आनीतं सर्वं पितुर्निवेदयन् परोक्षेणैवदानप्रकारं प्रशंसति (प्रातारत्नं० इत्यादि)।

अर्थ—यहां इतिहास कहते हैं—दीर्घतमा का पुत्र कक्षीवान् नाम ऋषि ब्रह्मचर्य करना चाहता हुआ

वेदाभ्यास करने के लिये गुरुकुल में चिरकाल रह कर वेदों को पढ़, व्रताचरण कर, गुरु से अनुज्ञा पाकर पुनः अपने घर आता हुआ मार्ग में रात को थक कर आराम करता था। प्रातःकाल भावभव्य का पुत्र स्वनय नाम राजा चाकरों सहित शिकार खेलता हुआ अकस्मात् कक्षीवान् के समीप आगया। वह जाग गया। उठ बैठा। राजाने उसका हाथ पकड कर अपने आसन पर बैठा कर उसका सौन्दर्य देख कर उसको अपनी कन्या देनेके मन से पूछा "भगवन्! आप किसके पुत्र हैं और आपका नाम क्या है? उसने अपने माता पिता का और अपना परिचय दिया। राजा ने उत्तम आदर योग्य जानकर प्रसन्न घर लौट कर उसको आदरपूर्वक बुलाकर मधुपर्क दिया। वस्त्र माला आदि से सत्कार कर रथों सहित दस कन्याएं, १०० मोहरें, सौ अश्व, १०० बैल, १०६०गौएं और फिर ११ रथ दिये। वह सब लेकर दीर्घतमा के पास आया और सब उसको दिखाया। उसने पिता को ये सब दिखाते हुए परोक्ष रूप से दान की प्रशंसा की (प्रातरत्नं०) इत्यादि।

समीक्षा—भाववव्य की कथा में इतना लम्बा इतिहास दो विद्वानों ने लिखा इस इतिहास की उत्थानिका को देख कर कोई भी सहृदय व्यक्ति यह मानने को तैयार न होगा कि वेद में इतिहास नहीं है। वह मुक्तकण्ठ से कह देगा कि "वेद में अवश्य इतिहास है। यह दोनों सूक्त (१। १२५, १२६) अवश्य जब कक्षीवान् ने कहे हैं और उनमें राजा स्वनय और राजा भाव्यव्य की कथा आती है तब क्या सन्देह शेष रह जाता है। विशेष रूप से जब (१२६) सूक्त के १म मन्त्र में स्पष्ट 'भाव्य' के स्तोम कहने का वर्णन है। वह राजा है। २य मन्त्र में राजा से १०० मोहरें' सौ अश्व, सौ गौवों दश रथों का और १००० गौवों का वर्णन है। चौथे मन्त्र में ४० लाल घोड़ों का वर्णन है। ५वे मन्त्र में ११ रथों का वर्णन है। ५. ६ मन्त्रों में रोमशा स्त्री का वर्णन है जिनमें स्त्री रोमशा अपने पूर्णयुवति होने का प्रमाण देती है। यह सब इतिहास नहीं तो क्या है? ऐसी किस्से कहानियां वेद में होते हुए भी वेद में इतिहास नहीं कहना बड़ी भूल और नासमझी की बात होगी।"

वेद में इतिहास मानने वालों के उपरोक्त रूप से आक्षेप हुआ करते हैं। वे इन कथा कहानियों के बल पर वेद में इतिहास को बतलाया करते हैं और अपनी बुद्धि से इसकी तह में जाने की कोशिश नहीं करते हैं। इसके अनन्तर हमारा कर्त्तव्य यह रह जाता है कि हम वेद को ऐतिहासिक उलझन में न पड़े रहने दें। क्योंकि जब तक वेद इस उलझन में पड़ा रहेगा तब तक वेद अपने वास्तविक प्रतिपाद्य अर्थ को नहीं बतला सकेगा।

ऐतिहासिक पक्षवादियों से हमारा प्रश्न यह है कि यदि इस सूक्त में कक्षीवान् का इतिहास और राजा स्वनय और भावयव्य और रोमशा आदि की कथा कहना ही वेद का उद्देश्य होता तो जिस प्रकार उत्था-निका सायण ने वा बृहद्देवता में शौनक ने लिखी है उसी प्रकार की कथा के लिये वेद में भी ऐसे एक दो सूक्त और होने चाहियें थे। परन्तु वैसी कथा का प्रसङ्ग दिखानेवाला एक भी सूक्त नहीं है। इसलिये स्पष्ट हो गया कि वेद में इतिहास या कथा वार्ता असम्बद्ध होने से उत्थानिकोक्त कथावाद बाद के लोगों की गढ़न्त है। अपने मन को मनाने या शिष्यबुद्धि की प्ररोचना के लिये कहीं २ कथा प्रसंग जोड़कर वेद के प्रकरणों को रोचक बना लिया है।

जैसे स्त्री—शरीर को सजाने के लिये आभूषण होते हैं वे शरीर पर लगे हुए शरीर से भिन्न नहीं जंचते और अनुरूप आकार प्रकार के बने हों तो वे उन उनअंगों के साथ विशेष सम्बन्धित प्रतीत होते हैं परन्तु तो भी सहस्र शपथों से भी वे आभूषण शरीर के अवयव नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार वेदमय सरस्वती के वाङ्मय देह पर ये कथा प्रसंग आभरण के समान शोभाजनक हैं, स्थान २ पर जुड़े हुए बहुधा वे उन २ स्थानों के अनुरूप ही जंचते हैं, परन्तु ऐतिहासिक पक्षवादियों के सहस्र शपथ

लेकर कहने से भी वे ऐतिहासिक प्रसङ्ग वेद वाणी के वास्तविक अवयव नहीं हो सकते। आभूषण जिस प्रकार वाह्य शोभामात्र हैं उसी प्रकार ये भी ऊपरी शोभा मात्र हैं। आभरण जिस प्रकार सदा चेतनाहीन रहते हैं उसी प्रकार ये कथा प्रसंग निर्जीव, तथा सारहीन हैं। इनका भीतरी वेद के प्रतिपाद्य अंश से लवमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। कोई कहे कि कुण्डल को देखकर ही परमेश्वर ने स्त्री के कान की रचना की यह जितना असत्य है उतना ही यह भी कथन असत्य है कि कक्षीवान् की कथाको देखकर १२५,१२६ सूक्तों की रचना की। यह तो वस्तुतः कहते बनेगा कि ये सूक्त विद्यमान थे इनकी प्ररोचना के लिये ये कथा प्रसंग रचे और कथाकारों ने इनको यथा तथा (फिट्) अनुरूप कर दिया। जिस प्रकार पूर्वाचार्यों से कहे नीति के श्लोकों को और बचनों को संगृहीत करके विष्णुशर्मा ने उनको सिंह, जम्बुक, कुत्ता, और मृग काक आदि की कथाओं के प्रसंगों में जड़कर नीतितत्व को मनोहर कर दिया है परन्तु पूर्वाचार्यों के वे श्लोक उन मृग काकादि के मुख से कहलाये जाकर भी पूर्वाचार्यों के ही बने रहते हैं उसी प्रकार कथा रचकर उन प्रसंगो में वेद सूक्तों के साथ लगा देने पर वेद के वे सूक्त कक्षीवान् आदि कथा के पात्रों से कहाये जा कर भी ईश्वर के ही बचन बने रहते हैं और जिस प्रकार पञ्चतन्त्रादिक प्रथम वार पढ़ने पर बाल बुद्धियों के लिये वे सब प्राचीन श्लोक उन काक मृगादि के वचन ही जंचते हैं और जबतक वे उन श्लोकों को अन्य पृथक २ ग्रन्थों में प्रसंगान्तर में पठित नहीं देख लेते तबतक वे उन वचनों को काक, मृगादि के ही वचन मानते रहते हैं। इसी प्रकार बालबुद्धि लोग जबतक वेद के मन्त्रों की योजना कथा प्रसंगों से रहित अन्य पक्षों में नहीं लेते तबतक उन मन्त्रों को कक्षीवान् आदि के वचन स्तुति आदि ही मानते रहते हैं और जिस प्रकार शास्त्रज्ञों के लिये प्राचीन विद्वानों के श्लोक पञ्चतन्त्रादि के भीतर काक मृगादि के कथा प्रसंग में लग कर भी कोई महत्वहीन नहीं हो जाते और बालबुद्धियों के मन बहलाव के लिये या सुगमतया तत्वावबोध कराने के निमित्त कथा द्वारा ही बतला दिये जाते हैं उसी प्रकार ईश्वरोक्त वेद के ये मन्त्र सूक्त बालबुद्धियों की दृष्टि में कक्षीवान् आदि की कथा में लग कर भी महत्वहीन नहीं हो जाते और प्रथम २ प्ररोचना मात्र के लिये उन प्रसंगों का कथा सहित ही व्याख्यान बाल-बुद्धियों के लिये कर दिया जाता है। परन्तु वे तो भी उनक उस कथा प्रसङ्ग से सर्वथा पृथक अपनी महत्वपूर्ण सत्ता बनी ही रहती है। इस दृष्टान्त से यह भी स्पष्ट हो गया कि हमारी दृष्टि में ऐतिहासिक पक्ष वादियों की स्थिति वेद के सम्बन्ध में क्या है ?

अब हमारा उद्देश्य यही है कि वेद के इन कथा प्रसंगों को सर्वथा पृथक् करके केवल वेद मन्त्रों का उनके भीतरी महत्वपूर्ण तत्वों की दृष्टि से आलोचन किया जाय। इस प्रकार के स्वतन्त्र आलोचन को हम "वैदिक विज्ञान" के अगले द्वितीय अंक में प्रस्तुत करेंगे। पाठक धैर्य से अगले अंक की प्रतीक्षा करें।

सम्पादकीय वक्तव्य

आर्य साहित्य मण्डल अजमेर की ओर से वैदिक विज्ञान नामक मासिक पत्र प्रकाशित करने का दृढ़ संकल्प गुरुकुल काँगड़ी के गत वार्षिकोत्सव के दिनों विज्ञापनों द्वारा आर्य जनता के सन्मुख प्रकट हो चुका है। इस मंडल के योग्य मैनेजिंग डाइरेक्टर (Managing Director) ने इस मासिक पत्र के सम्पादन का भार मेरे निर्बल कन्धों पर रखा है। वैदिक धर्म की सेवा के भार से प्रेरित होकर, मैंने उनकी आज्ञा शिरोधार्य समझ कर प्रथम "नमूनाअंक" पाठकों की सेवा में उपस्थित किया है। दिवाली को इसका प्रथम अंक प्रकाशित होगा और तब से नियम पूर्वक प्रतिमास "वैदिक विज्ञान" पाठकों की सेवा में पहुंच जाया करेगा। नमूना अंक के प्रकाशन और दिवाली के मध्य के काल में मैं आशा करता हूं कि वैदिक विज्ञान के प्रेमी पाठक पर्य्याप्त संख्या में इस पत्र के ग्राहक हो जायेंगे, और अपने मित्रों को इस पत्र के ग्राहक बनने की ओर प्रेरणा करेंगे। पाठक स्वयं जानते हैं कि विना अच्छी ग्राहक संख्या के किसी भी मासिक पत्र का चलना कठिन होता है और उस पत्र में उन्नति कर सकना तो सर्वथा असम्भव सा ही हो जाता है। इस नमूना अंक में वैदिक की सब विशेषताओं को मैं पाठकों के सन्मुख नहीं रख सका और न एक अंक में सब विशेषताएं रखी ही जा सकती हैं। वैदिक विज्ञान के लेख प्रायःकर वेदों के सम्बन्ध में तथा वैदिक विषयों और इनके सम्बन्धी विषयों पर ही हुआ करेंगे। वैदिक विज्ञान पत्र की विशेषतायें निम्न लिखित होंगी।

१. वैदिक विज्ञान में प्रतिमास वैदिक विज्ञान या कला अथवा शिल्प के सम्बन्ध में कोई न कोई लेख अवश्य रहा करेगा।

२. वैदिक विज्ञान में प्रतिमास अभी शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद और उसका भावार्थ अवश्य रहा करेगा। शतपथ ब्राह्मण की समाप्ति पर फिर किसी अन्य उपयोगी ग्रन्थ का अनुवाद प्रकाशित करना आरम्भ किया जायगा। अर्थात् वैदिक विज्ञान में किसी न किसी प्राचीन ग्रन्थ का सिलसिलेवार अनुवाद अवश्य प्रकाशित किया जाया करेगा।

३. वैदिक विज्ञान में ऐसे लेख भी दिये जाया करेंगे, जिनसे पाठकों को शनैः २ वैदिक साहित्य का तथा वैदिक परिभाषाओं का ज्ञान समय समय पर होता रहे। इस प्रकार वैदिक विज्ञान पाठकों की रुचि स्वयं वेदाध्ययन की ओर अधिक बढ़ाता चला जायगा।

४. वैदिक विज्ञान में वेदों के भिन्न २ मन्त्रों की मौलिक सरल तथा स्पष्ट व्याख्या भी रहा करेगी। इस प्रकार पाठक वैदिक साहित्य के सुधामृत का पान भी प्रतिमास कर सका करेंगे।

५. समय २ पर वैदिक विज्ञान में वेद सम्बन्धी पाश्चात्य कल्पनाओं के खण्डन भी प्रकाशित हुआ करेंगे।

६. प्राचीन पारसी धर्म का वैदिक धर्म के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है। कोशिश की जायगी कि इस मासिक पत्र में ऐसे लेखों के भी पढ़ने का पाठकों को अवसर मिले जिससे कि पाठक प्राचीन पारसी धर्म और वैदिक धर्म का परस्पर मुकाविला कर सकें।

७. वैदिक विज्ञान में अधिकतर वैदिक-धर्म तथा वैदिक सिद्धान्तों पर मण्डनात्मक लेख ही प्रकाशित हुआ करेंगे।

अन्त में इस नमूना अङ्क द्वारा पाठकों से मेरी यह भी प्रार्थना है कि वे कृपाकर समय २ पर मन्त्र द्वारा वैदिक विज्ञान के सम्पादक को सूचित करते रहेंगे। कि वैदिक विज्ञान में और किन २ विषयों का समावेश किया जाय जिससे कि वैदिक विज्ञान की उन्नति होती रहे, और पाठकों की रुचि इधर अधिक बढ़ती जाय। वैदिक विज्ञान के सम्बन्ध में, जिन्हें जो कुछ भी वक्तव्य हुआ करे, उसे वे कृपा कर सम्पादक वैदिक विज्ञान, गुरुकुल कांगड़ी जिला० सहारनपुर के पता पर लिखने की कृपा किया करें।

श्री मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मण्डल लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिन्टिंग प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ

मार्गशीर्ष सं० १९८९ वि० दिसम्बर सन् १९३२ ई०

वर्ष १] [अङ्क ३

इस अङ्क में पढ़िये

महर्षि श्री स्वा० दयानन्द सरस्वती

अवैतनिक सम्पादक—श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालङ्कार.

वार्षिक मूल्य ४) रु०

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिकविज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २।।),नमूने की प्रति ।=) के टिकट भेज कर मँगाइये।

२—"वैदिकविज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।

३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज, प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।

४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख कागज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।

५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।

६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।

७—लेख हर महीने की ५ तारीख तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।

८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।

९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो,तो अपने ही पोस्ट आफ़िस से उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें, तो उसके लिए हमें लिखना चाहिए।

१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।

११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।

१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर करना चाहिये।

१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है। प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट में नहीं छापे जायंगे।

साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।

छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।

पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०) प्रति मास।

आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वालों को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानो के लिये

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	२०) प्रति मास।
पाठ्य विषय में	१२) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फार्म के प्रति फार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी होगा। भारी क्रोड़-पत्रों का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

॥ ओ३म् ॥

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वोंपर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष १	मार्गशीर्ष, संवत् १९८९ वि०, दिसम्बर, सन् १९३२ ई०	सं० १

वेदोपदेश

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ अथर्व ३ । ३० । १ ॥

(सहृदयम्) एक हृदय, (सांमनस्यम्) एक मन, (अविद्वेषम्) और द्वेष का न होना (वः) तुम्हारे लिये (कृणोमि) मैं नियत करता हूं; (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे को (अभिहर्यत) चाहा करो, (जातं वत्सम् इव) उत्पन्न हुए बछड़े को जैसे (अघ्न्या) गौ चाहा करती है।

२—यह मन्त्र गृहस्थ प्रकरण का है। गृहस्थ के लोग आपस में किस प्रकार का बर्ताव करें, परस्पर किस प्रकार का व्यवहार रक्खें, इस सम्बन्ध की रीति-नीति का उपदेश इस मन्त्र में किया गया है। इस मन्त्र में परस्पर व्यवहार का जो उपदेश है वह हमारे गृहस्थ, समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र अर्थात् सभी प्रकार के जीवनों के सम्बन्ध में फलदायक है। मन्त्र में उपदेश दिया है कि तुम्हें आपस में द्वेष न करना चाहिये। द्वेष परस्पर कलह कराने वाला होता है। सामुदायिक कार्यों का विघातक यही द्वेष है। गृहस्थ

जीवन में पति और पत्नी में या गृहस्थ के अन्य व्यक्तियों में यदि परस्पर द्वेष है तो गृहस्थ-जीवन नरक का स्थान बन जाता है। जिस समाज में, व्यक्तियों में परस्पर द्वेष होता है वह समाज भी उन्नति नहीं कर सकता, वह राष्ट्र भी उन्नत नहीं हो सकता जिसमें कि रहने वाले भिन्न २ समाजों में आपस के झगड़े तथा द्वेषभाव बढ़े हुए होते हैं। भारतवर्ष की उन्नति के पथ में हिन्दुओं, सिक्खों और मुसलमानों के पारस्परिक झगड़े और द्वेषभाव कांटे बने हुए हैं। वेद उपदेश करता है कि तुम सब को चाहिये कि आपस में द्वेष न किया करो।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह कौनसा पथ है जो कि हमें इस उद्देश्य की ओर ले जा सकता है, जिस पथ पर चलने से हम पारस्परिक द्वेष से मुक्त हो सकते हैं, छूट सकते हैं? । इसका उत्तर मन्त्र देता है कि (सहृदयम्) अर्थात् तुम सब अपना हृदय एक करो, अपना दिल एक बनाओ। मनुष्य अपने साथ कभी द्वेष नहीं करना चाहता। कारण यह है कि उसके एक देह में एक ही हृदय है, एक ही दिल है। जो लोग भी—चाहे वे एक गृहस्थ के हों, एक समाज के हों, या एक राष्ट्र के हों—यह यत्न करते रहते हैं कि हम सबका दिल एक हो जाय वे कलह, झगड़ों तथा द्वेषभावों से रहित हो जाते हैं। हृदय या दिल भावनाओं (sentiments) का स्थान है। व्यक्तियों की भावनाएं (sentiments) अगर एक हो जाया करती हैं तो उन में द्वेषभाव स्वभावतः कम हो जाता है। भावनाओं (sentiments) को एक करना ही हृदय को एक करना है।

हृदय यदि नाना हों, परस्पर फटे हुए हों, तब वैयक्तिक झगड़े अधिक बढ़ जाते हैं। ऐसी अवस्था में लोग सचाई की परवाह न कर वैयक्तिक झगड़ों को मुख्य स्थान दे देते हैं। यदि हृदय मिले हुए हैं, नाना तथा भिन्न २ प्रकार की व्यक्तियों में देहों के भिन्न २ होते हुए भी यदि दिल एक हैं तब वहां मन भी एक हो जाया करते हैं। मन का काम है विचार करना और संकल्प-विकल्प करना। विचारों की एकता तथा संकल्प-विकल्पों की एकता का आधार है हृदय की एकता। हृदयों के एक हो जाने पर, मतभेद लड़ाई के कारण नहीं बनते। वे मानो भिन्न होते हुए भी कार्य की दृष्टि से एक ही होते हैं। हृदयों के एक हो जाने पर लोगों में समझौता करने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। वे एक दूसरे के विचारभेदों को भी मान तथा सत्कार की दृष्टि से देखने लग जाते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपने ही विचारों पर अन्य सब को लाने में अनुचित उपायों का अवलम्बन नहीं करता।

इस प्रकार हृदयों तथा मनों में एकता उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य के पारस्परिक द्वेष बहुत कुछ कम हो जाते हैं। सामाजिक व्यवहारों में हम देखते हैं कि किन्हीं व्यक्तियों में यदि परस्पर द्वेषभाव किसी कारण से उत्पन्न हो गया है तो यह द्वेषभाव उन्हें अधिकाधिक और दूर करता जाता है। इनमें से एक यदि सत्पथ पर भी हो तो दूसरा जानबूझ कर भी उसकी निन्दा करने में तत्पर रहता है। इसलिये यदि पारस्परिक द्वेषभाव की जड़ काटनी हो तो हमें यत्न करना चाहिये कि हम सदा कोशिश करते रहें कि हमारे दिल तथा मन आपस में मिल जावें। दिलों के मिलाने के लिये कई साधन हैं। यथा—एक दूसरे

का मान तथा सत्कार करना, एक दूसरे को निमंत्रित करना, एक दूसरे की सामाजिक प्रशंसा करना, एक दूसरे को आर्थिक या अन्य प्रकार की सहायता देना इत्यादि नाना उपायों द्वारा हम हृदय तथा मन एक कर सकते हैं और इस प्रकार शनैः २ हमारे द्वेष-भाव भी दूर होते चले जायंगे।

मन्त्र ने द्वेषभाव को दूर करने तथा हृदयों और मनों को एक करने का एक उपाय दर्शाया है। वह यह है कि परस्पर एक दूसरे के साथ प्रेम करना। मुख कड़वा है तो उस कड़वेपन को हम मीठा खाने से दूर कर सकते हैं। इसी प्रकार जिसके जीवन में द्वेषभाव का कड़वापन विद्यमान है वह उसे प्रेमभाव के मिठास द्वारा दूर कर सकता है। दो व्यक्तियों में यदि परस्पर द्वेष है तो उनमें से यदि एक चाहता है कि मेरे साथ दूसरे व्यक्ति का द्वेष न रहे तो उसे चाहिये कि वह प्रथम स्वयं आगे बढ़े और द्वेष करने वाले व्यक्ति के साथ वास्तव में—अपने कर्मों, व्यवहारों, तथा संकल्पों में—सच्चा प्रेम करने लग जाय। ऐसा होने पर दूसरा व्यक्ति भी जो कि पहले उसके साथ द्वेष करता था—अवश्य प्रेम करने लग जायगा। द्वेष की जड़ को उखाड़ने के निमित्त प्रेम की यह मात्रा उग्र रूप की होनी चाहिये। इसमें दृष्टान्त गौ का दिया गया है। बछड़े के उत्पन्न होते ही गौ उसे किस चाव से चाटने लगती है इसे वे लोग समझ सकते हैं जिन्होंने गौ का अपने नवजात शिशु के साथ अतिशय स्नेह अपनी आंखों से कभी देखा है। आजकल के सामाजिक जगत् को इस मन्त्र के भावों पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

अभ्यास मार्ग

(१)

(गन्ध तन्मात्रा को वश में करना)

[ले०—श्री पं० प्रियरत्नजी[1] आर्ष वैदिक अनुसन्धानकर्ता]

शौच, स्नान आदि से निवृत्त होकर किसी शुद्ध एकान्त स्थान में किसी भी अनुकूल आसन से बैठ जावें, चाहे वह सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन या स्थिर सुखासन हो। प्रत्येक आसन में केवल इस बात का ध्यान रखना कि शरीराङ्ग अकड़े हुए न हों, किन्तु आसन के आधार पर सीधे बैठ कर बाहर भीतर के अङ्गों में शिथिलता होनी चाहिये। मेरुदण्ड यानी कमर न झुकाना, किन्तु सारे शरीर का भार गुदास्थल पर रखा हो। इस प्रकार आसन लगा कर मन को निर्विचार बनाने का अभ्यास करना चाहिये। अर्थात् मन के अन्दर जो भी विचार आवे, तत्क्षण उस विचार को हटाना अथवा

(१) श्री पं० प्रियरत्नजी अभ्यास की उच्चभूमि पर पहुंचे हुए हैं। वे जो कुछ लिखेंगे उसे अपने अभ्यास से परख कर लिखेंगे। उनके अनुभव इस लेखमाला में प्रकाशित होते रहेंगे। जो इस अभ्यास मार्ग पर चलना चाहें और इस मार्ग पर चलते हुए यदि किसी पाठक को कोई बात प्रष्टव्य जान पड़े तो वह कृपाकर सम्पादक से पत्र व्यवहार करें। —सम्पादक

मन को उससे अलग करना। इसी प्रकार जब दूसरा विचार आवे, तो फिर उसको धकेलना और मन को उससे अलग करना। एवं, जैसे २ विचार आते जावें, वैसे २ उनसे मन को हटाते रहना। ऐसा करने से मन के संकल्प विकल्पों पर अधिकार होकर मन स्वाधीन और स्थिर होने लगेगा। अथवा इस निमित्त 'ओ३म्' की जपध्वनि करनी चाहिये, या मन में पन्द्रह मिनट तक लगातार ऐसे उपाय का अवलम्बन करना चाहिये कि मन को क्षणभर का भी अवसर इधर उधर जाने का न मिले। अथवा दोनों कानों को अंगुलियों से बन्द करके अन्तर्ध्वनि जो प्रतीत होती है उसके ऊपर मन को छोड़ देना यानी उस ध्वनि पर लगाए रखना। इस प्रकार इन तीनों में से किसी एक को दस मिनट तक करके तीन प्राणायाम करना। प्राणायाम की विधि में ज्ञातव्य यही है कि प्राणायाम चार प्रकार का होता है। इस समय तो केवल बाह्य प्राणायाम का ही सेवन करना है अतएव इसी का प्रकार लिखता हूं।

पूर्वोक्त आसन लगा कर भीतर के श्वास को नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा वेग और बल के साथ इस प्रकार फेंको जैसे कि अतिवेग और बल से वमन (उलटी-कय) हुआ करती है। यानी साधारण श्वास की अपेक्षा प्राणायाम के समय भीतर के श्वास को इस प्रकार बाहर फेंकने का यत्न करना कि मानो भीतर का श्वास नीचे भूमि आदि स्थल को टक्कर मारे या स्पर्श करे। जैसे अधिक आगे कूदने के लिये कूदनेवाले को कुछ पीछे से दौड़ कर आना होता है, एवं भीतर के श्वास को बाहर बल और वेग से फेंकने के लिये मूलेन्द्रिय (गुदा स्थान) का ऊपर को संकोच इस प्रकार करे, जैसे किसी सभा आदि में बैठे हुए एकाएक शौचप्रवृत्ति (हाजित) को रोकने के लिये गुदा का ऊपर संकोच क ते हैं। ऐसा करने से भीतर का पूर्ण श्वास बाहर वेग और बल के साथ निकल सकेगा, पुनः निकले हुए श्वास को गुदा के संकोच के साथ बाहर ही रोके रखे। जब घबराहट प्रतीत हो, तब धीरे २ पूर्ण श्वास अन्दर ले लेवे, यह एक प्राणायाम हुआ। पुनः उस लिये हुए श्वास को अन्दर न रोके किन्तु तत्काल ही बाहर फेंक कर बाहर ही रोकदे। इस प्रकार तीन प्राणायाम करने चाहियें।

उक्त प्राणायाम आदि की विधि को दोनों समय यदि किया जावे, तो तीन दिन पर्याप्त हैं, यदि एक समय करना हो तो एक सप्ताह तक यह विधि करनी चाहिये। किन्तु दोनों समय ही करना अधिक उपयोगी है। पुनः चौथे दिवस पूर्वोक्त शौचादि नित्यकर्म से निवृत्त हो और आसन प्राणायाम करके देशी कपूर को आधे मिनट के लिये इस प्रकार सूंघे कि मन से नासिका इन्द्रिय में उस कपूर की गन्ध का निश्चय करे कि यह कैसी गन्ध है, नासिका की आन्तरिक त्वचा (भीतर की खाल) में किस प्रकार स्पर्श करती है। लगभग आधी मिनट सूंघ कर उस कपूर को दूर हटादे और दो मिनट तक मनको नासिका में रखते हुए उस गन्ध का स्मरण करे। आध, पौन मिनट तक उसकी कुछ २ स्मृति आवेगी। फिर उसी प्रकार आधे मिनट के लिये कपूर को सूंघे और हटा कर दो मिनट तक याद करे। इस प्रकार चार बार यही क्रिया करे। और सब से पीछे चौथी बार सूंघ दो मिनट की अपेक्षा पांच मिनट तक याद करता रहे। पश्चात् उठ जावे और उठने के साथ ही कपूर को जरा सूंघ कर इधर उधर शान्ति से कुछ टहले, टहलते हुए मन को कपूर

गन्ध के संस्कार में लगाए रखे। यह क्रिया दोनों समय करनी चाहिये। दूसरे दिन कपूर को तीन बार सूंघना और तीन २ मिनट के अन्तर से याद करना, । अन्त में दस मिनट तक याद करते रहना। तीसरे दिन दो बार सूंघना और पांच मिनट के अन्तर से याद करना और अन्त में १५ मिनट तक याद करना। चतुर्थ दिन केवल एक बार सूंघना और बीस मिनट तक याद करना। पांचवे दिन अभ्यास से घण्टा या डेढ़ घण्टा पहिले सूंघना और २५ मिनट याद करना। पांचवें दिन भी सायंकाल चार या पांच घण्टे पहिले सूंघना और आध घण्टे तक याद करने का अभ्यास करना। अब आगे कपूर को सूंघने की आवश्यकता नहीं है। छठे दिन प्रातः समय बिना गन्धाश्रय के ही ३५ मिनट तक अभ्यास करना। अभ्यास से उठते समय गन्ध केवल पांच दिन तक ही सूंघनी चाहिये, पश्चात् नहीं।

२-प्रथम दिन सारी नासिका में मन को रखते हुए अभ्यास करे। दूसरे दिन नासिका के जिस भाग के अन्दर विशेष गन्ध प्रतीत हो यानी नासिका के नोक से लेकर जड़ तक की ओर जो कि ऊपर की प्रणाली है उस पर मन को रखते हुए सुगन्ध का अनुभव करे। तीसरे दिन उस प्रणाली के द्वारा गन्ध की अन्तिम टक्कर ऊपर मस्तिष्क स्थान में जहां लगे, वहां पर मन को रखते हुए गन्ध का अभ्यास करे, साथ में नासिका के ग्रहण द्वार से गन्धानुभव कर पुनः साथ ही सीधा नासिका के ऊपर की ओर भीतर के अन्तिम केन्द्र पर मन को रखते हुए अभ्यास करना चाहिये। चतुर्थ दिन केवल केन्द्र में ही गन्ध सूंघने से दो मिनट पहिले रख गन्ध सूंघ कर वहीं केन्द्र पर मन रखते हुए अभ्यास करता रहे।

३—इस प्रकार गन्ध के अभ्यास के दूसरे दिन कपूर की गन्ध में और अभ्यास की गन्ध में कुछ भेद प्रतीत होने लगेगा जो कि कपूर की गन्ध की अपेक्षा रोचक और मन को भाने वाली गन्ध प्रतीत होगी। यह अभ्यास में प्रवेश हो जाने का स्वरूप है। पुनः इस अभ्यास की गन्ध में रोचकता बढ़ती चली जायगी और जिस दिन से कपूर सर्वथा छोड़ दिया जावेगा उसी दिन से यह रोचकता बढ़ती चली जायगी और गन्ध दिव्य बनती चली जायगी और स्वाभाविक मधुरता का (मीठापन) इसमें अनुभव होगा और कपूर से घृणा हो जायगी, बल्कि सभी गन्धों से घृणा होगी

४—इस गन्ध का अभ्यास ऐसा रुचिकर और प्रबल होगा कि अभ्यास से उठने को मन ही न करेगा। और उठने पर भी घूमते फिरते तथा वार्त्तालाप करते हुए भी घण्टों तक इसका संस्कार बना रहेगा।

५—गन्धाभ्यास पक्क हो जाने पर अभ्यास से अतिरिक्त समय में भी कभी कहीं व्याख्यान आदि सुनते हुए मन स्थिर हो जावे तो उसी समय गन्ध का काम स्वयं चालू हो जावेगा।

६—इस अभ्यस्त गन्ध के ऊपर इतना अधिकार हो जाता है कि जिस समय यह अभ्यास में आ रही हो तो उसी समय नासिका-श्वास को किसी दूसरे के वस्त्र आदि पर फेंक कर उसको इस गन्ध का अनुभव करा सकते हैं। किन्तु यह बात विशेष अभ्यास पर निर्भर है। इधर जाना भी ठीक नहीं है, यह सिद्धि

का क्षेत्र है। इससे अभिमान होकर बाधा होना सम्भव है।

७—इस गन्धाभ्यास के स्थिर हो जाने पर लगभग एक सप्ताह पश्चात् जिह्वाग्र पर कुछ मीठा रस प्रतीत होगा किन्तु उस तरफ़ मन को नहीं लेजाना, प्रत्युत नासिका के केन्द्र में ही मन को रखना क्योंकि जिह्वाग्र रस नासिका के आगे की भूमि है, अपक्व अवस्था में भूमि बदल जाना ठीक नहीं।

८—यह कार्य गन्ध का अभ्यास है, जिसके अन्दर किसी निश्चित गन्ध की दिव्य रूप में प्रतीति रहती है।

९—दोनों समय ही गन्धाभ्यास करने के पश्चात् उठने से कुछ पहिले लगभग ५ मिनट ओ३म् का मानसिक जप करना चाहिये। क्योंकि मनुष्य का अन्तिम ध्येय यही है।

१०—इस अभ्यास में न केवल कपूर की गन्ध ही अपितु अन्य गन्ध का आश्रय भी ले सकते हैं, पर शुरू से अन्त तक अभ्यास में एक गन्ध हो। दूसरे गन्धों में फूलों की गन्ध तथा इतर आदि त्याज्य हैं। पत्तों में यूकलिप्टिस और तुलसी जैसे रोगनाशक तथा जन्तु नाशक सुन्दर गन्ध वाले वृक्षों के पत्ते ले सकते हैं। ग्रीष्म काल में कपूर, पिसी हुई इलायची आदि तथा ठण्डे दिनों में यूकलिप्टिस, तुलसी, पिसी जायफल आदि से अभ्यास करना चाहिये।

जिसका मन अत्यन्त चञ्चल हो और पूर्वोक्त तीन दिन शान्त बैठने या ओंकार का जप करने अर्थात् अन्तर्ध्वनि के सुनने से अभ्यास में प्रवेश की योग्यता उत्पन्न होने की सम्भावना न हो तो उस व्यक्ति को निम्न प्रकार अभ्यास करना चाहिये।

तीन दिन के स्थान पर एक सप्ताह या दस दिन अथवा इससे भी अधिक समय तक पूर्वोक्त अन्तर्ध्वनि आदि का सेवन करे। अथवा प्रातः ७ बजे के लगभग आसन लगा कर बैठ जावे और १ फुट की दूरी पर नाभि की उंचाई के बराबर किसी टेबल, चौकी आदि पर एक इंच की लम्बी चौड़ी ताज़ी हरी पत्ती पर प्रथम दिन दो तीन मिनट त्राटक करे (बिना पलक झपके देखते रहना) इसी प्रकार प्रतिदिन दो २ तीन २ मिनट बढ़ाता हुआ सप्ताह या दस दिन में आध घण्टे तक त्राटक का अभ्यास करले। किसी दिन त्राटक को छोड़े नहीं किन्तु करता ही रहे। पुनः तदनन्तर उक्त कपूर आदि का अभ्यास आरम्भ करदे।

जिस दिन कपूर का आश्रय छोड़ दिया हो, उस दिन से लेकर कम से कम एक सप्ताह और अधिक से अधिक दो सप्ताह गन्ध का अभ्यास करना चाहिये। आगे बढ़ने वाले अभ्यासियों को दो सप्ताह से अधिक गन्धाभ्यास न करना चाहिये, किन्तु इससे आगे की भूमियों पर जाना चाहिये। अधिक कालतक गंधाभ्यास ही करते रहने से आगे की भूमि पर चलने में कठिनाई होगी, क्योंकि गन्ध के साथ राग अधिक हो जाने से उसके अन्दर फिर गन्ध वशीकार की सिद्धियां बाधक बन जाती हैं। अस्तु, उपस्थित गन्धाभ्यास से आगे करने का अभ्यास यह है कि उपस्थित गन्धाभ्यास कार्य रूप है, क्योंकि इसको कपूर के आश्रय से स्थिर किया है। इससे आगे कारण गन्ध का अभ्यास करना चाहिये। उसकी विधि यह है कि अभ्यास के समय मन को नासिका के केन्द्र पर रखते हुए भी

कपूर के आश्रय से अभ्यास की गन्ध प्रतीत हो रही है उसकी तरफ़ से मन को हटाना अथवा उस गन्ध को नासिका के सूक्ष्म श्वास के द्वारा धकेलते रहना मन से हटाते रहना, उस गन्ध को भुलाते रहना चाहिये। किन्तु मन उसी नासिका के केन्द्र पर स्थिर रहे। एवं गन्ध को भुलाते हुए उसके स्थान पर भिन्न २ गन्ध प्रतीत होंगी, उन सब को हटाना चाहिये। पुनः जब दो तीन दिन भुलाते हुए सब के हट जाने पर कारण गन्ध पृथिवी की अपनी वास्तविक गन्ध (कोरी मिट्टी या प्रथम वर्षा से उत्पन्न भूमि-गंध) प्रतीत होने लगे तो उस गन्ध का अभ्यास मन को नासिका के केन्द्र में रखते हुए करना चाहिये। उत्तरोत्तर अभ्यास करने से यह गन्ध भी प्रतिदिन सूक्ष्म और रुचिकर होती चली जायगी। और कपूर के आश्रय वाली अभ्यस्त गन्ध से बढ़कर अत्यन्त रोचक और प्रिय मालूम होगी। इसका अभ्यास कुल दो सप्ताह तक करे। कपूर के आश्रय से गन्धाभ्यास समाधि को सविचार समाधि कहते हैं। क्योंकि इसमें कपूर चिन्तना का दिव्य स्वरूप है। और कारण गन्ध के अभ्यास की समाधि को निर्विचार समाधि कहते हैं, क्योंकि इसमें गंध मात्र का नेति नेति (नहीं नहीं) का स्वरूप है। इस प्रकार ये दोनों समाधियां पातञ्जल योग सिद्धान्त के अनुसार—

"सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्॥"

योग० १। ४५॥ सूत्र पर।

"पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः" (व्यास), समझनी चाहिये।

उक्त दोनों प्रकार के गन्धाभ्यास के दिनों में जानबूझ कर किसी तीक्ष्ण गन्ध को सूंघना नहीं चाहिये, क्योंकि अभ्यास के वास्तविक गन्ध में वह बाधक बनती है।

१—संसार के सुखों में एक गन्धसुख भी है, जिसको नासिका इन्द्रियों से उपलब्ध करते हैं, उसकी अपेक्षा अभ्यास की अवस्था में गंध का दिव्य सुख अनुभव होता है, जो सांसारिक गंध सुख से सैकड़ों गुणा उत्तम सुखमय है, तथा जिसका संस्कार देर तक ठहरता है।

२—संसार की सभी गंधों से विराग हो जाता है, मन उनमें चलित नहीं होता।

३—नासिका-शक्ति का विकास हो जाता है।

४—मन की स्थिरता और बुद्धि की वृद्धि होती है।

५—ग्राह्य मार्ग द्वारा निर्वीज (निर्वस्तुक) समाधि तक पहुंचने के लिये अभ्यास भूमि पर आरूढ़ होने और आगे बढ़ने का साधन है।

(क्रमशः)

मनोयोग का अभ्यास

यत्र क च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम्। तत्र सदः कृणवसे॥ ऋ० ६। १६। १७॥

भा०—हे साधक! (यत्र क च) जिस किसी भूमि पर तू (ते मनः) अपने मन अर्थात् संकल्प विकल्प करने वाले मननशील अन्तःकरण को (दक्षं) अतिकुशल और (उत्तरम्) पूर्व अभ्यस्त भूमि से उत्कृष्ट बनाकर (दधसे) धारणा द्वारा स्थिर करे (तत्र) वहां ही तू (सदः) उसकी स्थिर स्थिति (कृणवसे) करने में समर्थ है।

—श्री प० जयदेव शर्मा वि० अ०

हवाई-नौका

(२)

[लेखक—श्री प्रो० विश्वनाथजी विद्यालंकार]

वैदिक विज्ञान के द्वितीय अंक में हवाई-नौका पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस द्वितीय लेख में हवाई-नौका के विषय में कुछ और प्रकाश डाला जाता है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के निम्न लिखित मन्त्रों पर ध्यान देना चाहिये। यथाः—

१-तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः॥
ऋ० १।११६।३॥

२-तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिः नासत्या भुज्युमूहथुः पतंगैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथै शतपद्भिः षडश्वैः॥
ऋ० १।११६।४॥

३-अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमा तस्थिवाँसम्॥
ऋ० १।११६।५॥

४-ता भुज्युं विभिरद्भ्यः समुद्रात्तुग्रस्य सूनुमूहथू रजोभिः।
अरेणुभि र्योजनेभिर्भुजन्ता पतत्रिभि रर्णसो निरुपस्थात्॥
ऋ० ६।६२।६॥

५-युवं भुज्युमर्णसो निः समुद्राद्विभिरुहथु ऋज्रेभिरश्वैः॥
ऋ० १।११७।१४॥

६-अजोहवीदश्विना तौग्र्यो वां प्रोळ्हः समुद्रमव्यथिर्जगन्वान्। निष्टमूहथुः सुयुजा रथेन मनोजवसा वृषणा स्वस्ति॥
ऋ० १।११७।१५॥

७-वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः॥ ऋ० १।२५।७॥

१—"हे अश्वि-देवताओ! तुमने भुज्यु को समुद्र में त्याग दिया जैसे की मरा हुआ मनुष्य अपने धन को त्याग देता है। हे अश्वि-देवताओ! तुम दोनो ने उसे नौकाओं द्वारा उठाया, जो नौकाएं आत्मा वाली थीं, अन्तरिक्ष में उड़ती थीं, और जिनका जल से सम्बन्ध नहीं था।"

२—"तीन रात और तीन दिन बहुत वेग से चलने वाले पतंगों द्वारा, हे असत्य रहित दोनो अश्वियो! तुम ने भुज्यु का वहन किया। धन्व अर्थात् अन्तरिक्ष में चलते हुए आर्द्र अर्थात् जल वाले समुद्र से पार उसे तुम लाए। वे पतंग तीन रथ थे या ६ अश्व थे और उनके सैंकड़ों पैर थे।"

३—"टेक रहित, स्थान रहित और पकड़ से रहित समुद्र में तुम ने वीरता दिखाई थी जब कि सौ अरित्रों वाली नौका पर बिठला कर तुम भुज्यु को उसके घर लाये थे।"

४—"तुम दोनों ने "वि" या "पतत्रियों" द्वारा—जो कि परस्पर मिलजुल कर संख्या में नाना थे—समुद्र की गोनी से धूलि से रहित मार्गों द्वारा, तुग्र के पुत्र भुज्यु का वहन किया।"

५—"तुम दोनों ने जल-भरे समुद्र से "वि" या "अश्वो" द्वारा भुज्यु का वहन किया,,।

६—"(पिता द्वारा) भेजा गया तुग्र का पुत्र समुद्र को गया, और उसने बिना दुःख शोक प्रकट किये तुम्हारा आह्वान किया। तुमने उत्तम जुड़े हुए रथ द्वारा जिसका कि वेग मन के वेग के सदृश था—कल्याणपूर्वक उसका वहन किया।"

७—"जो (वरुण) अन्तरिक्ष में उड़ते हुए "वि" के मार्ग को जानता है, जो समुद्र में रहने वाला नौकाओं के मार्ग को जानता है"।

ऊपर दिये सात मन्त्रों का अर्थ हो चुका। इस अर्थ में तुग्र, भुज्यु, समुद्र, अश्वि, अन्तरिक्ष, रथ, वि, पतंग, नौ, अतिव्रजद्भिः और मनोजवसा, तिस्रः क्षपः त्रिरहः तथा समुद्रस्यपारे—आदि शब्दों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इन अर्थों के सम्बन्ध में सायणाचार्य ने अपने वेद भाष्य में निम्न लिखित आख्यायिका दी है:—

"तुग्र राजर्षि था जो कि अश्वि-देवताओं का प्रिय था। द्वीपान्तर वासी शत्रुओं से पीड़ित होकर इसने उन पर विजय पाने के निमित्त अपने पुत्र भुज्यु को सेना समेत नौका द्वारा भेजा। नौका समुद्र के मध्य में जब बहुत दूर चली गई तो वह वायु के वेग से छिन्न भिन्न हो गई। तब भुज्यु ने अश्वि-देवताओं की स्तुति की। अश्वि-देवताओं ने सेना समेत भुज्यु को अपनी नौकाओं में चढ़ा कर तीन दिन और तीन रात के समय में उसे उसके पिता के समीप पहुंचा दिया।"

तुग्र और भुज्यु तथा अश्वि-देवताओं के वास्तविक अर्थ क्या हैं—इस पर इस लेख में विचार न किया जायगा। हम ने यहां केवल दर्शाना यह है कि वैदिक मन्त्रों में इस प्रकार के इशारे मिलते हैं जिन द्वारा कि वेदों में हवाई-नौकाओं का वर्णन प्रतीत होता है।

२

ऊपर दिये सात मन्त्रों और उनके अर्थों का पुनः निरीक्षण करना चाहिये। मन्त्र संख्या २ में "आर्द्रस्य समुद्रस्य पारे" (गीले समुद्र के पार), मन्त्र संख्या ३ में "समुद्रे" (समुद्र में), मन्त्र संख्या ४ में "अद्भ्यः समुद्रात्" (जलों से अर्थात् समुद्र से), मन्त्र संख्या ५ में "अर्णसो निः समुद्रात्" (जल से अर्थात् समुद्र से), तथा मन्त्र संख्या ६ में "समुद्रे जगन्वान्" (समुद्र को गया)—आदि पद इस सचाई की ओर निर्देश कर रहे हैं कि वेदों में समुद्रों में नौकाओं के चलाने का वर्णन निःसन्दिग्ध है।

समुद्र में चलने वाली नौका यदि समुद्र में टूट जाय तो उसके सवारों की रक्षा के नाना साधन हो सकते हैं। उनमें से एक साधन वेद ने दर्शाया है। वह यह है कि उस समय विमानों के सहारे या हवाई-नौकाओं के सहारे उनकी रक्षा करनी चाहिये। मन्त्र संख्या १ (ऋ० १।११६।३) में 'भुज्यु' की रक्षा अश्वि-देवताओं ने हवाई-नौकाओं द्वारा की है। इस मंत्र का पिछला आधा भाग निम्न लिखित है। यथा:—

"तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः।"

मन्त्र के इस आधे भाग में स्पष्ट कहा है कि अश्वियों ने उसे (भुज्यु को) नौकाओं द्वारा उठाया और पहुंचाया। यह नौकाएँ समुद्र में चलने वाली नहीं, अपितु अन्तरिक्ष में चलने वाली हैं—इस बात का निर्णय करने वाला दूसरा शब्द भी इसी मन्त्र के पिछले आधे भाग में पढ़ा है। वह है "अन्तरिक्षप्रुद्भिः"। इसका अर्थ है "अन्तरिक्ष में उड़ने वाली" (नौकाओं द्वारा)। सायणाचार्य ने यहां अर्थ किया है "जल के ऊपर २ चलने वाली" (नौकाओं द्वारा)। परन्तु समझ में नहीं आता कि मन्त्र में जब "अन्तरिक्ष

प्रुद्भिः"। शब्द में अन्तरिक्ष शब्द स्पष्ट सुनाई पड़ता है तब अन्तरिक्ष का अर्थ अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश ही क्यों न लिया जाय। इस शब्द का यहां लाक्षणिक या गौण प्रयोग क्यों माना जाय।

'अन्तरिक्ष प्रुद्भिः' के आगे "अपोदकाभिः" शब्द पढ़ा है। इस शब्द का अर्थ यह हो सकता है कि "उदक के साथ जिनका सम्पर्क नहीं" (अपगतः उदकसम्बन्धो याभ्यः) अन्तरिक्ष में उड़ने वाली नौकाओं का समुद्रीय उदक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। सम्भवतः समुद्र में चलने वाली नौकाओं से अन्तरिक्ष में चलने वाली नौकाओं का भेद दर्शाने के निमित्त ही मन्त्र में "अपोदकाभिः" शब्द पढ़ा हो।

इन हवाई-नौकाओं की नियमित (Controled) चाल होनी चाहिये, ये ऐसी न होनी चाहियें कि अन्तरिक्ष में एक बार उड़कर फिर ये काबू के बाहर हो जाँय, हमारे नियन्त्रण में न रहने पाएं—इस भाव का प्रदर्शक शब्द "आत्मन्वतीभिः" है। आत्मन्वतीभिः का अर्थ है ऐसी नौकाएं मानो जिनमें कि आत्मा विद्यमान है। मनुष्य के शरीर में हम अनुभव करते हैं कि इस शरीर को नियमित चाल तथा गति में रखने वाली शक्ति इस में वास करने वाली आत्म-शक्ति है। आत्मा निकल गया तो शरीर मृत हो गया, इसकी चाल तथा गति बन्द हो गई, शान्त हो गई। यह आत्मा इस शारीरिक कला को नियमित रूप में चला रहा है। हवाई नौकाओं का वर्णन मन्त्र ने जो "आत्मन्वतीभिः" शब्द द्वारा किया है इस द्वारा केवल यह सूचित किया प्रतीत होता है कि हवाई नौकाओं की गति-विधि नियमित होनी चाहिये, उन्हें ऐसे नियम से उड़ना चाहिये जैसे शरीर या पक्षियों का शरीर नियम से गति करता तथा उड़ता है। इस वर्णन द्वारा वैदिक हवाई-नौकाओं की अवस्था उन्नत प्रतीत होती है।

मन्त्रों में हवाई-नौकाओं का वर्णन वास्तव में है इसके लिये प्रमाण रूप में मन्त्र संख्या २ (ऋ० १। ११६।४) भी पेश किया जा सकता है। इस मन्त्र में कहा है कि "अश्वि-देवता भुज्यु को पतंगों द्वारा ले गये और इन पतंगों द्वारा उन्होंने भुज्यु को गीले समुद्र से पार किया" वह वर्णन बहुत गौरव का है। इसमें कहा गया है कि पतंगों द्वारा भुज्यु का वहन हुआ। संस्कृत साहित्य में पतंग का अर्थ होता है—पक्षी। अब सोचना चाहिये कि वेद ने यह वर्णन क्या कर दिया कि अश्वि-देवता भुज्यु को पतंगों पर चढ़ाकर ले आए। पतंग अर्थात् पक्षी आकाश विहारी हैं, समुद्रविहारी नहीं। यदि भुज्यु की नौका टूटने पर अश्वि-देवताओं ने उसे समुद्री-नौका द्वारा घर पहुँचाया होता तो उन समुद्री-नौकाओं का वर्णन वेद "पतंग" शब्द द्वारा न करता। वास्तव में आकाश में उड़ने वाले विमान या हवाई-नौकाएं आकृति में पतंग जैसी ही होती हैं, पक्षी के सदृश ही होती हैं। हवा में उड़ने का प्रथम विचार मनुष्यों ने पक्षियों की उड़ान से लिया होगा, यह कल्पना नहीं। सम्भवतः विमान की प्राथमिक रचना पक्षियों के देहों और अवयवों की रचना के निरीक्षण और परीक्षण का ही परिणाम हो। वेद हवाई-नौकाओं को 'पतंग' कहता है, पक्षी कहता है। यह कथन स्वाभाविक है। और इन नौकाओं को 'पतंग' कहता हुआ वेद यह सूचित कर रहा है कि ये नौकाएं जिन द्वारा अश्विदेवताओं

में भुज्यु का वहन किया, समुद्र नौकाएं नहीं अपितु हवाई-नौकाएं हैं इस सम्बन्ध में मंत्र संख्या ४ तथा ५ भी (ऋ० ६।६२।६; १।११०।४) विशेष महत्त्व के हैं। इन मंत्रों में हवाई-नौकाओं के निर्देश के लिये "विभिः" तथा "पतत्रिभिः" शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन मंत्रों में कहा गया है कि "अश्वि-देवताओं ने जल अर्थात् समुद्र से (मं० सं० ४) नाना "वि" तथा "पतत्रियों" द्वारा भुज्यु का वहन किया, तथा उसे समुद्र में से निकाल कर (मं० सं० ५) उन्होंने नाना "वि" द्वारा उसका वहन किया।" प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये "वि" और "पतत्री" क्या वस्तु हैं। "वि" का अर्थ भी पक्षी है और "पतत्री" का भी अर्थ पक्षी है। मन्त्र संख्या २ (ऋ० १।११६।४) में पठित "पतंग" शब्द का भी अर्थ पक्षी है। इस प्रकार मन्त्रों में बार २ और भिन्न २ नामों द्वारा हवाई-नौका की आकृति को पक्षी की आकृति के सदृश कहा गया प्रतीत होता है। यह समझ नहीं पड़ता कि भुज्यु तो समुद्र में नौका पर चढ़ कर जाय और अश्वि-देवता उसे पक्षियों पर सवार कर वापिस लाएं। उचित यह है कि यदि किसी ज़माने में नौकाओं की सत्ता का प्रमाण मिलता हो तो समुद्र में जाने तथा वापिस लौटने के साधनों के सम्बन्ध में एक स्थान में प्राकृतिक साधन की तथा दूसरे स्थान में दिव्य या दैवी साधन की कल्पना न की जाय। एक ओर तो भुज्यु समुद्र में नौकाओं द्वारा जाय और डूबते समय उसे पक्षियों पर चढ़ा कर लाया जाय यह कल्पना परस्पर विरोधिनी प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था में सायणाचार्य का कथन है कि अश्वि-देवता भी अपनी समुद्री नौकाओं द्वारा ही भुज्यु को उसके घर वापिस लाये थे। परन्तु इस सम्बन्ध में वैदिक प्रमाण का अभाव है। क्योंकि अश्विदेवता भुज्यु को जैसी नौकाओं द्वारा वापिस लाए उनके सम्बन्ध में वेद में वर्णन है कि वे नौकाएं (१) अन्तरिक्ष में उड़ने वाली थीं। (२) जल के साथ उनका कोई सम्बन्ध न था। (३) वे पतंग, वि, या पतत्री रूप थीं। इन सब भावों को इकट्ठा कर यदि इन पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि वेदों के ये वर्णन हवाई-नौकाओं की सत्ता की ओर ही निर्देश करते प्रतीत होते हैं।

इस सम्बन्ध में उपरोक्त मन्त्रों के निम्नलिखित भागों पर पुनः दृष्टि डालनी चाहिये और इन भागों के परस्पर मिलान से जो परिणाम निकले उसे स्वीकार कर लेना चाहिये। यथाः—

(क) तमूहथुर्नौभिः (मं० सं० १, ऋ० १।११६।३)

(ख) भुज्युमूहथुः पतंगैः (मं० सं० ऋ० १।११६।४)

(ग) ऊहथुर्भुज्युं नावमातस्थिवांसम् (मं० सं० ३, ऋ० १।११६।४)

(घ) भुज्युं विभिः पतत्रिभिः ऊहथुः (मं० सं० ४, ऋ० ६।६२।६)

(ङ) भुवं भुज्युं विभिरूहथुः (मं० सं० ५, ऋ० १।११७।४)

(च) तमूहथुः सुयुजा रथेन (मं० सं० ६, ऋ० १।११७।१५)

(क) देखो, निरुक्त अ० २, खं० ११॥

(ख)

(ग) अ० २, खं० १०, अ० ५ खं० ५॥

(घ) अ० ९, खं० १४॥

यह तो मानना ही होगा कि अश्वि-देवता जब भुज्यु को बचाकर समुद्र से वापिस लाए, तो वे उसे किसी एक साधन द्वारा लाए होंगे, और वेद में उस एक साधन का वर्णन भी होना चाहिये। उपरोक्त मन्त्र भागों में उस साधन को 'नौ' भी कहा है, 'पतंग' भी कहा है, 'वि' भी कहा है, 'पतत्री' भी कहा है और 'रथ' भी कहा है। अब हमें विचारना चाहिये कि ऐसा साधन कौनसा हो सकता है जो कि नौकारूप भी हो, तथा उसे पक्षी भी कहा जासके। विचार करने पर हमें यही प्रतीत होता है कि ऐसा साधन हवाई-नौका ही हो सकता है, समुद्री नौका या आकाशीय पक्षी नहीं। इस सम्बन्ध में एक प्रमाण और पेश किया जा सकता है। मं० सं० २ (ऋ० १।११६।४) में वचन मिलता है "समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे"। इस वैदिक वचन में "समुद्रस्य पारे" का तो अर्थ है "गीले समुद्र के पार" (ले गये)। वैदिक साहित्य में समुद्र का अर्थ १ आकाश भी होता है तथा पृथ्वी का समुद्र भी। गीले समुद्र के वर्णन से पृथ्वी के समुद्र का निर्देश किया गया है। इस वैदिक वचन में एक शब्द और है, और वह है "धन्वन्"। यह सप्तमी विभक्ति का एक वचन प्रतीत होता है। निघण्टु में धन्व शब्द अन्तरिक्ष के पर्यायवाची शब्दों में पढ़ा गया है। निरुक्त में भी धन्व शब्द का अर्थ या तो किया है आकाश और या धनुष।

अतः उपरोक्त वैदिक वचन का अर्थ यह प्रतीत होता है कि अश्वि-देवता उसे "आकाश के मार्ग में गीले समुद्र के पार ले आए"। इस प्रकार इस प्रकरण में नौकाओं के साथ "अन्तरिक्ष" और इसके पर्यायवाची "धन्व" शब्द के वर्णन से प्रतीत होता है कि अश्वि-देवताओं की नौका समुद्री नौका न थी, अपितु हवाई नौका थी।

इस सम्बन्ध में विचार के योग्य एक और निर्देश उपरोक्त मन्त्रों में मिलता है। मं० सं० ४ (ऋ० ६।६२।६) में सायणाचार्य की दृष्टि के अनुसार उन मार्गों का वर्णन है जिन मार्गों द्वारा कि अश्वि-देवता भुज्यु को उसके घर वापिस लाए। उन मार्गों के सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्द ध्यान देने योग्य हैं। यथाः—रजोभिः, अरेणुभिः, योजनेभिः। 'रजोभिः' का अर्थ सायण ने किया है—मार्गों द्वारा। शेष दो शब्द इन मार्गों के विशेषण प्रतीत होते हैं। अरेणुभिः का अर्थ है— रेणु रहित, मट्टी से रहित, और 'योजनेभिः' का अर्थ है—कई योजनों में फैले हुए। इस प्रकार अर्थ यह हुआ कि "रेणु रहित तथा कई योजनों में फैले हुए मार्गों द्वारा अश्वि-देवता भुज्यु को उसके घर वापिस लाए। इस वर्णन में मार्गों को रेणु रहित कहा गया है। समुद्र के मार्ग भी रेणुरहित हैं और आकाश के मार्ग भी रेणु रहित हैं। रेणु की सत्ता पृथिवी पर के मार्गों में हो सकती है। परन्तु वेदों में अरेणुभिः विशेषण प्रायः उन मार्गों के सम्बन्ध में आता है जो कि (क) अन्तरिक्ष के हैं, जिन मार्गों द्वारा कि सूर्य का रथ आता जाता है। अतः यह निर्देश भी हमारी इसी कल्पना को पुष्ट करता प्रतीत

(क) i ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्ष ॥ यजु० ३४। २७ ॥

ii आत्मानं ते मनसा राद जानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्। शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिरेणुभिः [illegible] पतत्रि ॥ यजु० २९।१७ ॥

होता है कि अश्वि-देवता भुज्यु को उसके घर अन्तरिक्ष के मार्गों द्वारा ही लाए होंगे ।

इस प्रकार उपरोक्त प्रमाणों तथा युक्तियों द्वारा यदि यह सिद्ध हो सके कि वेदों में हवाई-नौकाओं का वर्णन है और वेदों में इन हवाई-नौकाओं को पक्षी-वाची पर्यायों द्वारा भी सूचित किया गया है तब मन्त्र संख्या (ऋ० १। २५। ७) का भाव भी और अधिक स्पष्ट हो जाता है। अन्य भाष्यकारों ने इस मन्त्र का अर्थ किया है कि "वह समुद्रवासी वरुण परमात्मा अन्तरिक्ष में उड़ने वाले 'वि" अर्थात् पक्षियों के मार्गों को जानता है और समुद्र में चलने वाली नौकाओं को भी। यहां नौकाओं के मार्गों से अभिप्राय है, समुद्र के मार्गों का जिन द्वारा नौकाएं आती जाती रहती हैं। परन्तु इस मन्त्र के प्रथम आधे भाग का अभिप्राय इस अर्थ में स्पष्ट नहीं होता। हमारा ख्याल यह है कि इसके प्रथम आधे भाग में भी "वि" शब्द का अर्थ हवाई-नौका ही है।

समुद्र शब्द वेद में अन्तरिक्ष और पृथिवी के समुद्र का वाची है इसे पूर्व दर्शाया जा चुका है। इस प्रकार मन्त्र का यह अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है कि "वह समुद्रवासी अर्थात् अन्तरिक्ष तथा पृथिवी के समुद्र में बसने वाला वरुण परमात्मा, अन्तरिक्ष में उड़ने वाली हवाई-नौकाओं के भी मार्गों को जानता है, और पृथिवीस्थ समुद्र में चलने वाली समुद्री-नौकाओं के भी मार्गों को जानता है"।

शेष बात जिसका कि इन मन्त्रों में वर्णन है वह है इन हवाई-नौकाओं का वेग। इस के जानने के निमित्त मंत्र सं० २ (ऋ० १।११६।४) में पतंगों या हवाई-नौकाओं का विशेषण है "अतिव्रजद्भिः" और मंत्र संख्या ६ (ऋ० १।११७।१५) में रथ या हवाई-नौकाओं का विशेषण है "मनोजवसा"। इन दोनों विशेषणों का अर्थ है 'बहुत तेज़ चलने वाले" तथा "मन के से वेग वाले"। इन हवाई-जहाजों के वेग को हम इन दोनों विशेषणों द्वारा थोड़ा बहुत समझ सकते हैं। मंत्रों में प्रत्येक घण्टे के हिसाब से इन हवाई-नौकाओं के वेग को नहीं दर्शाया। केवल इतना ही कहा है कि इनका वेग बहुत अधिक है, ये मन के से वेग वाले हैं। मन का वेग कितना होता है इसे प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में अनुभव कर सकता है। अत्यन्त तेज़ी का दृष्टान्त मन के दृष्टान्त से बढ़कर अन्य कोई नहीं। मन तो आधे सैकण्ड तक में कहीं का कहीं भाग निकलता है। इस दृष्टान्त से प्रतीत होता है कि वेद ने ऐसी हवाई-नौकाओं के निर्माण की ओर इशारा किया है जिन का कि वेग बहुत ही अधिक हो। मंत्र संख्या २ (ऋ० १।११६।४) में लिखा है कि "तिस्रः क्षपः त्रिरहाति व्रजद्भिः"। इसका भाव यह है कि अश्वि-देवता तीन दिन और तीन रात लगातार चलती हुई बहुत वेग वाली हवाई-नौकाओं द्वारा भुज्यु को समुद्र के पार ले आए। हवाई-नौकाएं जिनका कि वेग प्रथम ही बहुत अधिक है, जो कि मन के से वेग से उड़ती हों वे यदि तीन दिन और तीन रात लगातार उड़ती रहें तो वे कितने योजन इतने समय में उड़ सकेंगी, इसकी थोड़ी बहुत कल्पना की जा सकती है। प्रतीत होता है कि बड़े २ समुद्रों के आर पार जाने का वर्णन इन मन्त्रों में है।

इस मंत्र में जब रात के समय भी हवाई-नौका के उड़ने का वर्णन मिलता है तो इस वर्णन में वेद में उन साधनों की भी कल्पना कर ली प्रतीत होती है, जिन

साधनों की रात में उठते समय प्रायः आवश्यकता पड़ती होगी।

इस प्रकार हवाई-नौकाओं की सत्ता के सम्बन्ध में निश्चय कर लेने के अनन्तर हमें एक और कल्पना को भी अवश्य मानना पड़ता है। भुज्यु समुद्री-नौका द्वारा समुद्र में गया। वहां उसकी नौका टूट गई। और अश्वि-देवताओं ने हवाई-नौकाओं द्वारा उसकी रक्षा की। इस वर्णन के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि अश्वि-देवताओं ने अपनी हवाई-नौका समुद्र में उतारी तब उन्होंने भुज्यु को उस नौका पर बिठाया। यह वर्णन समुद्र में हवाई-नौकाओं के उतर सकने और वहां से उड़कर फिर हवा में जा सकने की विधि की ओर भी इशारा कर रहा है। इस प्रकार हमने देखा कि वैदिक वर्णनों में हवाई नौकाओं की कल्पना अत्युत्कृष्ट है।

वेद में सूर्य-विज्ञान

[ले०—श्री पं० प्रियरत्नजी]

खगोल विज्ञान में सूर्य की प्रधानता है। अतएव लोक लोकान्तरों के परिचय के लिये मुख्यतया सूर्य-विज्ञान का समझना अत्यावश्यक है। यन्त्र या बुद्धि द्वारा हमारे लिये खगोल का विज्ञान केवल ब्रह्माण्ड पर्यन्त निर्भर है। इसमें सूर्य, ग्रह, उपग्रह, राशि और नक्षत्र—इनकी गति—विधि का वर्णन होता है। परन्तु आकाश में अनन्त ग्रह—उपग्रह तथा तारागण हैं जिनका कि परिचय मनुष्य—बुद्धि से परे है। अध्यात्म—योगी इस अज्ञेय—क्षेत्र में भी प्रवेश पा सकता है। विश्व का पूर्ण ज्ञान तो विश्व के नायक एकमात्र जगदीश्वर को ही है। सूर्यविज्ञान में सूर्य की स्थिति, इसके आधार, गति, अस्तोदय तथा अन्य लोकों के साथ सम्बन्ध इत्यादि विषयों का वर्णन होता है। इन विषयों का पूर्ण परिचय वेदों के ज्योतिष—प्रकरणों तथा सूर्य-सिद्धान्त आदि ज्योतिष—ग्रन्थों द्वारा हो सकता है। इस लेख में सूर्य स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ कहा जायगा।

१—"अग्निमदधम्" (यजु० २३ । ५) तथा "अर्कोऽग्निः" (आर्यमहीय) इन प्रमाणों द्वारा प्रतीत होता है कि सूर्य बड़ा भारी अग्नि-पुञ्ज है। इसके अन्दर लोह आदि धातुएं, गन्धक आदि आग्नेय पदार्थ तथा अन्य धूम्रीय द्रव—पदार्थ हैं। ये जल कर ज्वालाओं को निरन्तर प्रकट करते हुए ज्वाला मण्डल होकर सूर्य के स्वरूप में परिवर्त्तित हुए हैं। ऐसा अध्यात्मदर्शन तथा विज्ञानवाद का सिद्धान्त है। जैसे धूमरहित अग्नि में उसके अन्दर का सूक्ष्म कोयला तथा घृत—तैल आदि पार्थिव सामग्री उसकी दीप्ति और स्थिरता के हेतु होते हैं, इसी प्रकार सूर्य में पार्थिव—पदार्थ निरन्तर जल जल कर उस की दीप्ति और स्थिरता के कारण बन रहे हैं। वस्तुतः सूर्य का भीतरी स्वरूप कृष्ण—रंग का है और वह बाहर से दीप्तिमय है। इन दो भागों की चर्चा वेद में इस प्रकार है। यथा:—

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते ।
उर्वीरापो न काकुदः ॥ ऋ० १ । ८ । ७ ॥

इस मन्त्र का देवता इन्द्र है और सूर्य का इसमें वर्णन है। इस मन्त्र के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है कि—

"अथ सूर्यस्य गुणा उपदिश्यन्ते"।

इस मंत्र का अर्थ निम्नलिखित है:—

"(यः) जो सूर्य है वह (कुक्षिः) कुष्णाति आकर्षति पदार्थान् इति कुक्षिः, अर्थात् आकर्षण धर्म वाला है, (सोमपातमः) निज किरणों से पदार्थों का विशेष पालन करने वाला है, (उर्वीः) इन दोनों धर्मों से युक्त सूर्य अनेक पृथ्वियों के साथ (समुद्र इव) समुद्र की न्याईं (पिन्वते) सेचन और सेवन धर्म से विद्यमान है"।

इस मन्त्र में 'समुद्र इव' में जाति में एक वचन है। अतः यहां अन्तरिक्षस्थ और पृथिवीस्थ दोनों प्रकार के समुद्रों का ग्रहण है। पृथ्वी के साथ सम्बन्ध रखने वाला समुद्र पृथ्वी के जलों का सेवन करता है अर्थात् अपनी ओर उसे खींचता है, आकृष्ट करता है। और अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध रखने वाला समुद्र पृथ्वी को सींचता है। इस प्रकार पृथिवीस्थ समुद्र का सेवनधर्म के साथ सम्बन्ध है और अन्तरिक्षस्थ समुद्र सिंचन धर्म के साथ। इस समुद्रोपमा के अनुसार ही सूर्य भी इसी प्रकार का है। अर्थात् इसका भी एक भाग तो पृथिवी के साथ सम्बन्ध रखता है और दूसरा अंतरिक्ष के साथ। सूर्य के मध्यभाग का पृथिवी के साथ सम्बन्ध है, यह भाग पृथ्वी का आकर्षण करता है। अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध रखने वाला सौर भाग पृथ्वी पर प्रकाश करता है। सूर्य का यह मध्यभाग पार्थिव अंश से युक्त है, अतः कृष्णरूप है, तथा दूसरा भाग अर्थात् बाह्यभाग प्रकाशरूप है। मध्यस्थ कृष्ण पार्थिव भाग इसके तेजोमय स्वरूप के पिण्डीभूत होने की स्थिति का निमित्त है। "सूर्य में कृष्णभाग की स्थिति है"—इस में प्रमाण है "असितो[1] रक्षिता"। अर्थात् सूर्याग्नि रक्षा करता है जो कि सित नहीं है, शुभ्र नहीं है, अर्थात् काला है।

सूर्य में इस पार्थिव द्रव्य (जो कि काला है) की सत्ता दर्शनकारों ने भी मानी है। यथा—'आदित्यलोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगस ∗ र्म ॥"। अर्थात् पार्थिव अंश के सहारे से सूर्यलोक में उपभोग की समर्थता है।

युक्ति भी सूर्य में पार्थिव अंश को सिद्ध करती है। जैसे हम लोगों के उपयोगी इस पार्थिव अग्नि में पार्थिव स्थूल भाग का सम्बन्ध है इसी प्रकार सूर्य की अग्नि में भी सूक्ष्म पार्थिव भाग की स्थिति है। यही सूक्ष्म पार्थिव भाग हमारी पृथ्वी की उत्पत्ति का कारण है। यही सूक्ष्म पार्थिव भाग, सूर्य में स्थित होकर, हमारी पृथ्वी के आकर्षण का कारण बना हुआ है।

यद्यपि पृथ्वी का गोला……सूर्य की ओर आकृष्ट होता है तथापि अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध रखने वाले तेजोमय सौरभाग की रश्मियां इस पृथ्वी को एकतानता से परे धकेल रही हैं। इस आकर्षण और परे धकेलने का परिणाम यह होता है कि पृथ्वी एक नियत कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है। सूर्य का तेजोभाग इस पृथ्वी को एकतानता से परे धकेलता है, इस कारण पृथ्वी अपनी नियत कक्षा पर रहती हुई सूर्य के अन्दर प्रविष्ट नहीं हो जाती,

1—अथर्व० ३। २७। १।

और न यह बिल्कुल परे ही परे धकेली चली जाती है क्योंकि सूर्य का घना मध्यभाग इसे अपनी ओर खींच भी रहा है।

सूर्य की रश्मियां पृथ्वी के धारण का कारण हैं इसमें वेद की भी साक्षी है। यथाः—

आयातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः॥
(अथर्व० ३। ८। १)॥

अर्थात् यह मित्र अर्थात् सूर्य ऋतुओं के साथ सम्बद्ध हुआ अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी को अपने नियत स्थान पर रखता है।

२—सूर्य के संगठन के वर्णन के पश्चात् अब उसकी रश्मियों के संगठन के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। सूर्य के सम्बन्ध में यह भी वर्णन मिलता है कि इसकी रश्मियां हजारों हैं। यथाः—

सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः। तो भी रंग-भेद से इसकी रश्मियां सात ही प्रकार की हैं। जैसे कि वेद में लिखा है कि :—

सप्तत्वा हरितो वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षणम्॥ (अथर्व० १३ २ २३) अर्थात् हे सूर्य! सात किरणें तेरा वहन कर रही हैं।

इन सात किरणों में से दो किरणें प्रधान हैं। इन दो किरणों का भी वर्णन वेद में बहुत स्थानों पर है। जैसे किः—

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः
तस्मा इन्द्राय गायत॥ (ऋ० १ ५ ४)

अर्थात् "जिस सूर्य की दो किरणें निज वृत्ताकार सूर्य-मण्डल में इस प्रकार वर्तमान हैं कि शत्रुजन संग्रामों में उन्हें नहीं सह सकते, उस सूर्य का हे लोगो! तुम व्याख्यान करो, अर्थात् स्वयं जान कर दूसरों को भी इसका ज्ञान दो"

इस मन्त्र में कही गई ये दो किरणें कौन सी हैं इसके सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण का कथन निम्नप्रकार से है। यथाः—ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी (ऐ० ब्रा० ८। ६) अर्थात् सूर्य की दो किरणें ऋक् और साम हैं। ऋक् और साम की आधिदैविक व्याख्या छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार है। यथाः—

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम। (छा० उप० १। ६। ५)।

इस प्रकार सूर्य में एक प्रकार की किरण है "शुक्लभाः" और दूसरे प्रकार की है नील अर्थात् कृष्ण रूप। इन दो किरणों के मेल से संग्रामों में शत्रु-जनों पर विजय प्राप्त होती है। सम्भवतः इन दो किरणों के मेल से कोई "सौरास्त्र" बन सकता हो। यह एक रहस्य की बात है। ऋषि दयानन्द ने भी वेदभाष्य में एक स्थान पर लिखा है कि:—"सूर्यकिरणैराग्नेयास्त्रादीनि शस्त्राणि" अर्थात् सूर्य की किरणों द्वारा आग्नेय आदि अस्त्र बनाए जा सकते हैं।

हमारा ख्याल है कि आग्नेय-काच द्वारा जो आग लग जाती है उसका कारण भी शुक्लभाः और नीली किरण ही हैं। जब आग्नेय-काच में ये दोनों किरणें मिलती हैं तभी आग लगती है। शेष किरणें इन्हीं दो किरणों की सहायक होती हैं। जहां शुक्लभाः नहीं वहां अन्य प्रकार की किरणों के विद्यमान होने पर भी प्रकाश नहीं हो सकता, और जहां शुक्लभाः है तथा नीली किरणें नहीं वहां प्रकाश के होते हुए भी जलाने का काम नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में

खद्योत तथा दबी आग आदि उदाहरण समझने चाहियें। अग्नि में भी, जलाने के काम में, उसकी शुक्रभाः तथा नीली रूप कृष्ण किरणें ही काम में आती हैं। सूर्य की न्याईं अग्नि में भी सात किरणें विद्यमान हैं। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि:—

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥

वस्तुतः अग्निमात्र में सात रंग हैं। चाहे वह पार्थिव अग्नि हो, वैद्युत् अग्नि हो या सौर अग्नि हो। सूर्य के सात रंगों को वेद में 'सप्तहरितः सप्ताश्वाः' आदि शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। मुण्डकोपनिषद् के उपरोक्त प्रमाण में पार्थिव—अग्नि के सात रंगों को सप्त जिह्वाः शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया है।

इसी प्रकार वैद्युत्—अग्नि के भी सात रंग होते हैं। आकाशीय बादलों में जो वैद्युत्-अग्नि दृष्टिगोचर होती है उसके भिन्न २ रंग दिखाई भी पड़ते हैं। उत्पातानुमान शास्त्र का एक वचन इस सम्बन्ध में बहुत प्रसिद्ध है यथाः—

वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी ॥ इत्यादि।

अर्थात् विद्युत् यदि कपिल रंग की हो तो समझना चाहिये कि वायु वेग से बहेगी, यदि वह बहुत लाल हो तो समझना चाहिये कि दिन बहुत तपेंगे, इत्यादि इस प्रकार विद्युत् के सम्बन्ध में भी भिन्न २ रंगों की कल्पना की गई है।

सूर्य, आग और आकाशीय विद्युत् इन तीनों में मूल किरण शुक्रभाः है। शुक्रभाः किरण से शेष सभी किरणें उत्पन्न की जा सकती हैं। इसीलिये मुण्डकोपनिषद् के

ऊपर के प्रमाण में शुक्रभाः किरण का नाम विश्वरूपी दिया है। अर्थात् वह किरण जो कि सब किरणों को रूप दे सकती है, उनके स्वरूप का निर्माण कर सकती है। इस मूल किरण के सम्बन्ध में वेद में लिखा है कि:—

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं,
षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः,
स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

(ऋ० १ १६४ १५ ॥)

इस मन्त्र का देवता है "विश्वेदेवाः"। सूर्य की किरणों को विश्वेदेवाः कहते हैं। यथाः—तस्य सूर्यस्य ये रश्मयः ते विश्वेदेवाः (श० ब्रा० ४। ३। १। २६)। अतएव इस मन्त्र का अर्थ यह हुआ कि "एक साथ प्रकट होने वाली सूर्य किरणों में से एक किरण शुक्रभाः है जो कि सातवीं किरण है। यह किरण एक ही कारण से उत्पन्न हुई है और शेष छः प्रकार की किरणें गतिशील तथा द्युलोक में रहनेवाले सूक्ष्म-तत्वों के सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं"। इसी प्रकार—

इदं सवित र्विजानीहि षड्यमा एक एकजः।
तस्मिन् हापित्व मिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥

(अथर्व० १०। ८। ५ ॥)

इस मन्त्र में भी ६ किरणों का और एक-किरण का पृथक् २ वर्णन आता है। यह मन्त्र सूर्य सम्बन्धी है इसमें प्रमाण यह है कि इससे पूर्व "द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम् (अथर्व० १०। ८। ४) मन्त्र में सूर्य के विज्ञान का ही वर्णन हुआ है। 'इदं सवितः' इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि "सूर्य सृष्टि का नियमन छः

किरणों के द्वारा करता है। और सातवीं शुक्लभाः या विश्वरूपी किरण एक ही कारण से उत्पन्न होती है और इन सब में प्रधान है। अन्त में ये सब भिन्न २ रंग वाली किरणें इसी प्रधान शुक्लभाः किरण में लीन हो जाती हैं। पुनः भेदभाव न रह कर केवल शुक्लभाः किरण ही प्रतीत होती है"।

इस प्रकार सूर्य, आग और आकाशीय विद्युत् के सम्बन्ध में यह वर्णन किया कि इन तीनों में सात २ रंग विद्यमान हैं और इनमें से प्रत्येक में सबसे प्रधान रंग शुक्ल है।

शतपथ ब्राह्मण भूमिका

[ले०—श्री पं० देवराजजी वेदवाचस्पति]

शतपथ ब्राह्मण के पढ़ने से मनुष्य को, जीवन की, आरम्भ से अन्त तक, एक पद्धति मिलती है। मनुष्य का वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन किस प्रकार चलना चाहिए शतपथ में यह स्पष्ट बतलाया है। इसमें जीवन के नियमों की व्याख्या विस्तार से की है। मनुष्य के आध्यात्मिक और आधिभौतिक जीवन को सृष्टि के नियमों के आधार पर अर्थात् आधिदैविक जीवन के आधार पर सुन्दरता से वर्णन किया है। शतपथ ब्राह्मण की बड़ी भारी विशेषता यह है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों प्रकार के जीवनों को समझाने के लिए इसमें एक ऐसी साधारण पद्धति निकाली गई है कि जिससे तीनों विषय एक साथ खुलते जाते हैं। इस साधारण पद्धति का नाम 'यज्ञ पद्धति' है।

जिस प्रकार नाटक में राम के चरित्र को जनता के सामने प्रकट करने के लिए, रामायण के विभिन्न २ पात्रों[1] का विभिन्न २ स्वरूप बना कर, उन पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध के अनुसार रामायण का कृत्य किया जाता है, इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में वर्तमान परमेश्वर की लीला का अभिनय करने के लिए एक नाटक रचा जाता है जिसका नाम 'यज्ञ' है। नाटक खेलने के लिए वा कोई अभिनय करने के लिए जैसे किसी नाट्यशाला की आवश्यकता होती है वैसे ही इस ब्रह्माण्ड का अभिनय करने के लिए यज्ञशाला की आवश्यकता होती है। यज्ञशाला में विविध पात्रों[2] का आयोजन किया जाता है। वे पात्र ब्रह्माण्डगत पदार्थों का वा विविध देवताओं का मानो रूप धरकर आते हैं और उनके प्रतिनिधि बन कर विविध कृत्य दिखलाते हैं। इन्द्र इस यज्ञिय नाटक का नायक होता है और शेष देवता उसके सहकारी होते हैं। शतपथ का० १ अ० ४ ब्रा० ५ में बतलाया है कि 'इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता' अर्थात् यज्ञ का देवता इन्द्र है। इन्द्र में सब देव ठहरे हुए हैं, इसी कारण कहते हैं कि इन्द्र ही सब देवता है, क्योंकि जितने देव हैं उन सब में

१—नाटक खेलने वाले।

२—यज्ञिय-पात्र।

श्रेष्ठ इन्द्र है। और सब देव सोम के बने हुए हैं इस कारण कहते हैं कि सोम ही सब देवता हैं क्योंकि जब किसी देवता का स्वरूप बनता है तो वह अग्नि में सोम को डालने से ही बनता है। सब देवता अग्नि के द्वारा अपना भाग लेते हैं, इस प्रकार अग्नि भी सब देवता है। इस प्रकार सब देवता एक देवता के रूप में तीन प्रकार से कहे जाते हैं।

सहाग्नि रुवाच—मय्येव वः सर्वेभ्यो जुह्वतु, तद्वो हं मय्या भजामीति। तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति। तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति॥

शतपथ का० १ अ० ६ ब्रा० ३ क० २०॥

अथ ह सोम उवाच—मामेव वः सर्वेभ्यो जुह्वतु, तद्वोऽहं मय्याभजामीति। तस्मात्सोमं सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वतु। तस्मादाहुः सोमः सर्वा देवता इति॥

क० २१॥

अथ यदिन्द्रे सर्वे देवास्तस्थानाः। तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवताः, इन्द्रश्रेष्ठा देवाः।

इत्येतद्ध वै देवास्त्रिरैकदेवत्या अभवन्।

स यो हैवमेतद्वेदैकधा हैव स्वानां श्रेष्ठो भवति।

क० २२॥

इस प्रकार देखें तो अग्नि में सोम की आहुति पड़ने का नाम यज्ञ है। इस यज्ञ से ही सब देवताओं के साथ इन्द्र की तृप्ति होती है।

अग्नि और सोम ये दो विरूप (opposite) शक्तियां हैं। अग्नि active है और सोम passive है। ये दोनों शक्तियां मिलकर सम्पूर्ण रचना रचती हैं। ये दोनों शक्तियां चेतनायें ज्ञान रूप से रहती है, बाह्य ज्ञेयरूप से नहीं। इसी चेतना का नाम इन्द्र है। प्रत्येक रचना के आधार में ज्ञान विद्यमान है। उस ज्ञान वा इन्द्र के आश्रित सम्पूर्ण विश्व का प्रकाश है। इन्द्र विश्व का राजा है। यथाः—

"इन्द्रो विश्वस्य राजति।"

इन्द्र ज्योतिर्मय है, प्रकाशमय है। जैसे अग्नि का प्रधान स्थान पृथिवी है, वैसे इन्द्र का प्रधान स्थान 'द्यु' है। यथाः—

"यथा अग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।"

इन्द्र इस विश्व का आत्मा है। यथाः—

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।"

इसी प्रकार इन्द्र का वर्णन चौदह प्रकार से आता है। कौषीतकी उपनिषद् में 'सत्यं हीन्द्रः' ऐसा कहा है। ऋग्वेद में शुना सूर्य सूक्त में 'श्वा' को इन्द्र कहा है। जो अत्यन्त गतिशील होने से सर्वत्र व्याप्त है वह 'श्वा' है। तवल्कारीय उपनिषत् में विद्युत् को इन्द्र बतलाया है। मैत्रायणी श्रुति कहती है कि उत्साह का नाम इन्द्र है। उत्साह को ही अध्यवसाय, दृढ़ निश्चय, वीर्य, शक्ति, प्राण और राजा इन शब्दोंसे कहा जाता है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु लोकों के रसों और पदार्थों को अग्नि, वायु और इन्द्र चेतन के शरीर में उपस्थित करते हैं। वैश्वानर अग्नि शरीर को गरम रखता है और बढ़ाता है। तैजस वायु शरीर में हरकत देता है और प्राज्ञ नाम का इन्द्र मन से कार्य सम्पादन करता है। सब देवों में अग्नि, वायु और इन्द्र प्रधान देव हैं, इनमें भी इन्द्र प्रधान है, सब का मालिक है। कौषीतकी श्रुति कहती है कि इन्द्र एक प्रकार का प्राण है इसका स्वरूप प्रज्ञा है, सब देव वा इन्द्रियां इसी के आश्रय हैं। ऐतरेय आरण्यक में विश्वामित्र और इन्द्र के संवाद

में इन्द्र विश्वामित्र को कहता है कि मैं भी प्राण हूं, तू भी प्राण है, सब भूत भी प्राण हैं और यह जो तप रहा है सो भी प्राण है। प्राणरूप होकर मैं सब दिशाओं में फैला हुआ हूं। कौषितकि श्रुति में इन्द्र प्रतर्दन को स्वयं कहता है कि मुझको आयु और अमृत रूप से समझ। ऋग्वेद में कहा है कि इन्द्र बल से, सहस् से वा ओजस् से प्रकट हुआ है और हर चीज़ की वर्षा करता है। स्वर-ध्वनि-नाद और मतिभेद से वाक् चार प्रकार की है। इसमें तार मन्द्र आदि भेद जिस वाक् के हैं वह वाक् स्वर कहाती है। स्वर में आघात-प्रत्याघात से जो क च ट त प आदि भेद से अभिव्यक्ति होती है वह ध्वनि है। वाक् अपने जिस रूप के द्वारा श्रोत्र को प्राप्त होती है वह नाद है। और संयुक्ताक्षर शब्दों में व्यञ्जनों को पृथक् २ करने वाला स्वर वा स्वर का अंश मति कहलाता है। इस चतुष्टयी-वाक् में स्वर सूर्य है प्राण है, और वह इन्द्र है। ध्वनि भाग अग्नि है। नाद वायु का भाग है। और यति भी इन्द्र है। इस प्रकार वाक् इन्द्र है। स्वर और व्यञ्जनों को बांधने वाला वाक् का जो आधार है वह आत्मा है और इन्द्र कहलाता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १२४ वें सूक्त के ९ वें मन्त्र में इसका प्रतिपादन किया है। प्राण और मन से सम्बद्ध वाक् का नाम आकाश है और वह इन्द्र है। सूर्य इन्द्र पिण्ड है उसकी एक २ किरण सप्त तन्तु है। उसके सात तन्तु ही सात रूप हैं। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—लाल, नारङ्गी, पीला, हरा, नीला, काला, धूमला। इन सब के मेल से भास्वर श्वेत सूर्य की ज्योति बनती है। वह किरण जिसके ये सात तन्तु हैं एक गौ है। इस गौ की जो ज्योति है वह ज्योति इन्द्र है। शब्द, तेज और जल में जो गति है वह इन्द्र है। इस प्रकार इन्द्र चौदह प्रकार से वर्णित है। इन्द्र यज्ञ का यजमान है। यज्ञ का फल इन्द्र को मिलता है।

यज्ञ का फल मिलने का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने अन्दर विद्यमान आत्मा से लेकर इन्द्रियों तक प्रत्येक तत्व को आधिदैविक जगत् के उसी २ तत्व से मिलाता है। जब आत्मा परमात्मा केसाथ, बुद्धि महान् के साथ, अहंकार अहंकार के साथ, मन मन के साथ, चित्त चित्त के साथ, प्राण प्राण के साथ एक हो जाता है तब यजमान मनुष्य के आत्मा का स्वरूप दिव्य हो जाता है अथवा उसका दिव्यात्मा बन जाता है। इस दिव्यात्मा बनाने की विद्या को जानने वाले अथवा यज्ञ सम्पादन करनेवाले विद्वान् वैज्ञानिक लोग ऋत्विज् कहलाते हैं और वे सृष्टि में होने वाली स्वाभाविक प्रक्रिया के अनुसार उसी की नकल पर यत्न करते हुए यजमान के साधारण आत्मा को दिव्यात्मा बनाते हैं। उस सब कृत्य की नकल यज्ञपद्धति में दिखलाई जाती है। उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जितना भी मनुष्य का कर्तव्य है उस सब का उपदेश यज्ञपद्धतियों में हुआ है।

यज्ञ सम्पादन के लिए प्रधान ऋत्विक् चार हैं ऋत्विजों के कार्यों के अनुसार उनके नाम होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा हैं। आधिदैविक सृष्टि में अग्नि होता है, वायु अध्वर्यु है, सूर्य उद्गाता है और चन्द्र ब्रह्मा है। आधिदैविक यज्ञ में इनके कृत्यों को समझाने के लिये प्रथम आधिदैविक यज्ञ का स्वरूप संक्षेप से दिखलाना आवश्यक है। यह दिखलाते हुए उन के कृत्यों का वर्णन भी बीच में ही आजावेगा।

यज्ञ सम्पादन के लिये वेदि की आवश्यकता है। आधिदैविक यज्ञ में यज्ञिय वेदि वह समतल धरातल है जो पृथ्वी के और सूर्य के केन्द्रों में से गुज़रता है और जिस धरातल में पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है। इसी धरातल में सम्पूर्ण यज्ञ कृत्य सम्पन्न होता है। इस धरातल में विद्यमान यज्ञिय क्षेत्र में एक ओर सूर्य है और दूसरी ओर पृथ्वी है। दोनों अग्नि हैं। सूर्य आहवनीय-अग्नि कुण्ड है और पृथ्वी गार्हपत्य-अग्नि-कुण्ड है। आहवनीय-अग्नि का मण्डल बहुत विस्तृत है। गार्ह-पत्य-अग्नि का मण्डल आहवनीय-अग्नि-मण्डल के अन्तर्गत है। सूर्य के सब ग्रह-उपग्रह सूर्य-मण्डल के बाहर सोम-मण्डल है। जैसे द्यु-मण्डल में सूर्य-लोक विद्यमान है वैसे सोम मण्डल में परमेष्ठि-लोक है। द्यु-मण्डल के बाहर उससे दूर अर्थात् परम स्थान में रहने से इसका नाम परमेष्ठी है। यह सम्पूर्ण सोम-मण्डल भी ज्ञान-मण्डल में वा स्वयम्भू-लोक के मण्डल में विद्यमान है। भूलोक और सूर्यलोक के बीच में अन्तरिक्ष का नाम रोदसी है। सूर्य-लोक और परमेष्ठि-लोक के बीच के अन्तरिक्ष का नाम क्रन्दसी है और परमेष्ठि-लोक तथा स्वयम्भू-लोक के बीच के अन्तरिक्ष का नाम स्यन्दसी है। जिस प्रकार सूर्य के ग्रह-उपग्रह हैं इसी प्रकार परमेष्ठी और स्वयम्भू के भी ग्रह-उपग्रह हैं। सूर्य परमेष्ठी का ग्रह है। और परमेष्ठी स्वयम्भू का ग्रह है।

सूर्य से जो पदार्थ चारों ओर फेंके जाते हैं वे उसके ग्रहों में जाते हैं। इसी प्रकार परमेष्ठी से जो पदार्थ फेंके जाते हैं वे उसके ग्रहों में आते हैं। अतएव सूर्य और पृथ्वी में भी आते हैं। इसी प्रकार स्वयम्भू से निकलने वाले पदार्थ परमेष्ठी और सूर्य में आ रहे हैं।

परमेष्ठी से फैलते हुए सोम[1] की आहुति निरन्तर सौर-अग्नि में पड़ रही है। इन्द्र अर्थात् प्राण (चेतना) से आहत हुआ या घनीभूत हुआ सोम, वृष्टिरूप में, इस भूलोक में आया है और आता रहता है[2]। उसी से अन्न, औषधि, वनस्पति आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। सूर्य की आहवनीय-अग्नि में अर्थात् सूर्य के विस्तृत आलोक में सोम की आहुति के पड़ने से इन दोनों के परस्पर मेल से, रासायनिक क्रिया द्वारा, जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे भूलोक की गार्ह-पत्य-अग्नि में आकर अनैन्द्रियक रूप से (inorganic matter) ऐन्द्रियक (organic matter) के रूप में परिणत होते रहते हैं। इस क्रिया का नाम परिपाक भी है।

जिस प्रकार सौर-अग्नि को आहवनीय-अग्नि, पृथ्वी स्थानीय अग्नि को गार्हपत्य अग्नि कहते हैं, इसी प्रकार अन्तरिक्ष-स्थानीय-अग्नि को दक्षिणाग्नि कहते हैं। द्युलोक और भूलोक के अग्नि-मण्डलों के मिलने से जो अग्नि उत्पन्न होती है उसे दक्षिणाग्नि कहते हैं। दक्षिणाग्नि और सौर-अग्नि के सम्बन्ध से एक अग्नि उत्पन्न होती है उसे वैश्वानर अग्नि कहते है। और गार्हपत्य अग्नि या

१—जैसे सूर्य से शक्तिपुंज निकलता है वैसे परमेष्ठि-तारा से भी शक्तिपुंज निकलता है। इसे सोम कहते हैं। यह सोम हमारे सूर्य पर पड़ रहा है।

२—अभिप्राय यह है कि पृथिवीलोक पर जितना जल विद्यमान है वह सब परमेष्ठि-तारा से आया हुआ घनीभूत सोम पदार्थ है।

भूलोक की अग्नि और दक्षिणाग्नि के सम्बन्ध से जो अग्नि पैदा होती है उसे आवसथ्याग्नि कहते हैं।

इस प्रकार एक अग्नि से दो, और दो से तीन, तथा तीन से पांच अग्नियों की उत्पत्ति होती है। इन अग्नियों का विज्ञान वेद और ब्राह्मण में भरा पड़ा है।

प्रत्येक पदार्थ की रचना किसी ज्ञान के आधार पर होती है। उस ज्ञान के अनुसार द्रव्य आकार ग्रहण करता है। द्रव्य को उस आकार में बांधने वाला प्राण है। वह द्रव्य वाक्[3] है, आकाशात्मक है, और सब भूतों का कारण तथा सूक्ष्मरूप है। वाक् जिस आकार को ग्रहण करती है वह मन है क्योंकि Idea ही वाक् के द्वारा बाह्य रूप से प्रकट हो रहा है। इस प्रकार प्रत्येक रचना मन-प्राण-वाक् से बनी हुई है। प्रत्येक रचना के ये तीन भाग हैं। सूर्य और पृथ्वी के भी मन, प्राण, वाक् तीन भाग हैं।

सूर्य से ज्योतिः, गौः और आयुः ये तीन प्रकार के पदार्थ निकलते हैं। इन्हीं पदार्थों में सूर्य का मन अर्थात् मनोरूप सूर्य, Idea रूप सूर्य ओत प्रोत है इसलिए ये सूर्य के मनोता हैं। सूर्य से निकलती हुई किरणें "गौः" कहलाती हैं ये किरणें सात रङ्ग की हैं। इन सात रङ्गों की किरणों के मेल से एक भास्वर श्वेत वर्ण की किरण बनती है। इसको ज्योतिः कहते हैं। इन किरणों के अन्दर जो सोम पदार्थ सन्निविष्ठ है उसका नाम आयुः है। ये ज्योतिः, गौः और आयुः सूर्य के विकर्षण (धकेलने) से और पृथ्वी के आकर्षण से निरन्तर पृथ्वी पर आ रहे हैं। पृथ्वी में ये पदार्थ पृथ्वी का और पृथ्वीस्थ पदार्थों का स्वरूप बनाते हैं। इसी आकर्षण-विकर्षण के द्वारा ये पदार्थ पृथ्वी से लौटते भी हैं। ज्योति को द्यौः, गौ को गौ, और आयु को वाक् कहा जाता है। पृथ्वी का प्रधान पदार्थ वाक् है, सूर्य का प्रधान पदार्थ ज्योतिः है, और अन्तरिक्ष का प्रधान पदार्थ गौः है। पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यु के वाक्, गौ और ज्योति ये तीन क्रमशः प्रधान मनोता हैं। जिस प्रकार सूर्य के ज्योतिः गौः और आयुः तीन मनोता हैं। इसी प्रकार परमेष्ठी के भृगु[4] अङ्गिरा[4] और अत्रि[4] तीन मनोता हैं भृगु और अङ्गिरा के तीन २ भेद हैं। अत्रि के तीन भेद न होने से उस पदार्थ का नाम अत्रि है। भृगु के तीन भेद अप्, वायु और सोम[5] हैं। अङ्गिरा के तीन भेद अग्नि,

---

३—प्रत्येक द्रव्य की स्थिति मनोरूप में भी होती है अर्थात् Idea के रूपमें या ज्ञानगत उसके प्रतिबिम्ब के रूप में भी वस्तु की स्थिति माननी आवश्यक होती है। वस्तु अपनी उत्पत्ति से पूर्व ज्ञानमय रूप में स्थित होती है। इसे मन कहते हैं। वस्तु की मानसिक-स्थिति को बाह्य स्थूल रूप देने का साधन जो Matter है अर्थात् प्रकृति पुंज है उसे वाक् कहा गया है। और प्राण वह है जिसके आधार पर उस बनी हुई वस्तु का जीवन स्थिर रहता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक् की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से भी की गई है। यथाः—उश्च अश्च वः, तौ अञ्चति परस्परं सम्बन्धाति इति वाक्। अर्थात् अ औ उ में जो परस्पर सम्बन्ध को पैदा करने वाली शक्ति है उसे वाक् कहते हैं। अ का अर्थ ब्राह्मणों में मन किया है और उ का प्राण। इस समय मन और प्राण का परस्पर सम्बन्ध जोड़ने वाला जो प्रकृति पुंज है उसे वाक् कहा गया है। यहां वाक् से वाणी अर्थ न लेना चाहिये।

४—अर्थात् सूर्यसे जिस प्रकार ज्योतिः, गौ और आयुः निकल रहे हैं इस प्रकार परमेष्ठि से ये तीनों पदार्थ सदा निकलते रहते हैं।

५—यह सोम वही सोम है जिसका कि—ऊपर वर्णन हो चुका है।

यम और आदित्य हैं। स्वयम्भू[6] की प्रथम सृष्टि भृगु और अङ्गिरा है अर्थात् स्वयंभू से परमेष्ठी की रचना हुई तब यही पदार्थ उसमें अत्यधिक था भृगु और अङ्गिरा का नाम मिला कर 'अथर्वा' है। अथर्वा को ही परमेष्ठी कहते हैं। सब से प्रथम उत्पन्न होने से यह ब्रह्मा[7] का ज्येष्ठ पुत्र है।

स्वयम्भू प्राणमय है। प्राण ही वेद[8] का कारण है। प्राण के बिना कोई रचना (form) नहीं बन सकती। रचना (form) का आकार ऋक् है। उस रचना का चतुर्दिक् जो मण्डल बंधता है वह मण्डल अर्थात् विस्तार सोम है। रचना को बनाने वाला वा वाक् को स्थूल रूप में लाने वाला बल जो कि प्राण है यजु हैं। वह नित्य पदार्थ अर्थात् वाक् जो रूपान्तरित होता है परन्तु नष्ट अर्थात् अभाव रूप नहीं होता अथर्वा है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् भी वेदमय है।

अथर्वा का जो भृगु भाग है वह घन, तरल, विरल इन तीन अवस्थाओं के कारण यथाक्रम अप्,[9] वायु, सोम इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। अप् घन है, वायु तरल है और सोम विरल है। इनमें से जो सोम भाग सूर्याग्नि में आहुत होता रहता है वह अग्नीषोमात्मक यज्ञ है। इसी अग्निषोमात्मक यज्ञ से संसार का निर्माण हो रहा है।

६—इसे पौराणिक ब्रह्मा कहते हैं।

७—स्वयम्भू।

८—ज्ञेय रचना।

९—अप् और वायु से पार्थिव जल और हवा का ग्रहण न करना चाहिये, अपितु ये उस भृगु पदार्थ की भिन्न २ दो अवस्थाएं हैं जिसकी तीसरी अवस्था सोम है।

इस सोम का नाम ही महान्[10] है। स्वयम्भू[11] में रहने वाले चिदात्मा[12] अव्यय का प्रतिविम्ब इसी महान् पर पड़ता है सूर्य जैसे बिना पानी के प्रतिबिम्बित नहीं होता वैसे ही सर्वत्र व्यापक चित्, बिना महान् के, प्रतिबिम्बित नहीं होता। महान् सोम ही चित् की योनि है। इसी में अव्यय पुरुष गर्भधारण करता है। महान् सोम भी अप् (घन), वायु (तरल), और सोम (विरल) भेद से तीन प्रकार का है। अतएव जीव भी संसार में आप्य, वायव्य और सौम्य भेद से तीन प्रकार के होते हैं। ये तीनों और अक्षर मन, प्राण और वाङ्मय क्षर[13] प्रजापति के अंश हैं। और वह क्षर प्रजापति अव्यय[14] और अक्षर से भी युक्त है। अतएव ये सब जीव मन-प्राण-वाङ्मय हैं। मन से इच्छा, प्राण से चेष्टा और वाक् से शब्द गुण वाली प्रकृति अभिप्रेत है। अतएव संसार यज्ञ के अधिष्ठाता प्रजापति को मन-प्राण वाङ्मय तथा वेदमय इत्यादि नामों से पुकारा गया है।

प्रजापति के दो रूप हैं—एक सत्य दूसरा विश्व। सत्य आत्मा है और विश्व शरीर है। आत्मा नित्य और अमृत है। शरीर अनित्य और मृत है। सत्य

१०—अर्थात् महत्तत्व। यथाः—प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारः आदि।

११—परमेष्ठि-लोक जिस मण्डल में रहता है उसे स्वयम्भू-लोक कहते हैं।

१२—जैसे सूर्य-लोक में इन्द्र है और परमेष्ठि-लोक में सोम है वैसे ही स्वयम्भू-लोक में चिदात्मा है अर्थात् चेतन सत्ता है।

१३, १४, क्षर—प्रजापति, अव्यय-प्रजापति और अक्षर-प्रजापति का वर्णन आगे देखो।

आत्मा षोडषी-पुरुष वा षोडश-कल-पुरुष है। षोडश-कल-पुरुष में पांच अव्यय, पांच अक्षर, पांच क्षर और एक परात्पर है। अव्यय-पुरुष जगत् का आलम्बन अर्थात् आधार है, इसको पुरुष कहदेते हैं। अक्षर पुरुष जगत् का निमित्त कारण है, इसी के परा प्रकृति वा कूटस्थ इत्यादि नाम हैं, क्षर-पुरुष-जगत् का उपादान कारण है, इसी को अपरा प्रकृति वा भूत कहदेते हैं। महाविश्व की दृष्टि से क्षर ब्रह्म ही सत्य आत्मा है। यह क्षर-आत्मा है। इस क्षर आत्मा का ही दूसरा नाम वेदमय ब्रह्मा है। क्षरात्मा मन-प्राण-वाङ्मय है। गीता में इसे पुरुष कहा है। यह ही पौराणिकों का ब्रह्मा है जिससे जगत् की उत्पत्ति होती है।

क्षर-सत्य में अव्यय मौजूद है। अर्थात् क्षर सत्य का आलम्बन या आधार अव्यय पुरुष है। अव्यय पुरुष की पांच कलाएं आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् हैं। इन कलाओं में से विज्ञान कला का जब जीव के साथ सम्बन्ध होता है तो यह उस की युक्ति का साधन बनता है। प्राण और वाक् सृष्टि के कारण हैं। मन विज्ञान की ओर जाता हुआ आनन्द को यदि प्राप्त हो तो आत्मा बन्धन से मुक्त हो जाता है, और यदि मन प्राण और वाक् की ओर जाए तो आत्मा सृष्टि के बन्धन में फंस जाता है। इस प्रकार मन ही मुक्ति और बन्ध का कारण होता है।

अक्षर पुरुष की पांच कलाएं प्राण, आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद ये हैं। अन्न का अर्थ सोम है। हुत सोम अग्नि में पड़कर अग्नि ही रूप बन जाता है। अन्नाद अग्नि है इसे रुद्र भी कहते हैं। अव्यय के आलम्बन से अक्षर पुरुष क्षर को प्रतिक्षण खा रहा है। अक्षर की ये पांचों कलाएं पुरुष के पांच मुख हैं। परन्तु हुत हुआ अन्न अग्नि रूप हो जाने से पांच मुखों के स्थान में चार मुख समझे जा सकते हैं। इस प्रकार पुरुष चतुर्मुख कहलाता है। यह चतुर्मुख ब्रह्मा का स्वरूप है। इसी बात को पुराण में लिखा है कि रुद्र ने ब्रह्मा का एक मस्तक काट दिया अतएव ब्रह्मा के चार मुख रह गये।

क्षर की पांच कलाएं आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी हैं। क्षर-ब्रह्मा सृष्टि का उपादान कारण है। अक्षर की पांचों कलाओं का परस्पर में पांचों कलाओं में आहुत होने से पञ्चीकरण होता है। पञ्चीकृत प्राणादि को पञ्चजन कहते हैं। ये पञ्चजन भी एक १ की प्रधानता से प्राणादि नाम से ही कहे जाते हैं। पांचों की पांचों में आहुति होने से पंचजन की उत्पत्ति है। अतः इस यज्ञ को सर्वहुत यज्ञ कहते हैं। पांचों पंचजन पांच यज्ञ हैं। इन यज्ञों से सृष्टि यज्ञ और आगे इसी प्रकार बढ़ता है। इस यज्ञ से पांच पुरंजन पैदा होते हैं। वे पांच पुरंजन स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा हैं। ये क्रमशः प्राणमय, आपोमय, वाङ्मय और अन्नमय हैं। ये पांचों यज्ञ रूप हैं। यज्ञ ही को विष्णु कहते हैं। इस प्रकार विष्णु की नाभि अर्थात् केन्द्र पर ब्रह्मा विराजमान है। यद्यपि ब्रह्मा स्वयं प्रतिष्ठारूप है तो भी यज्ञरूप विष्णु की प्रतिष्ठा की अपेक्षा रखता है। अतएव विष्णु प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा है। स्वयम्भू आदि पांचों पिण्ड पुष्टिकर होने से 'पुष्कर' हैं। प्रत्येक पिण्ड में हृत्पृष्ठ, अन्तःपृष्ठ, बहिःपृष्ठ तीन २ पृष्ठ होते हैं। पिण्ड का केन्द्र स्थान 'हृत्पृष्ठ' है इसे ही दहर पुण्डरीक कहते हैं। स्वयं पिण्ड अन्तःपृष्ठ है। यही दूसरा 'पुष्कर' है। इस पिण्ड के बाहर पिण्ड की महिमा रहती है।

इस मण्डल को बहिःपृष्ठ कहते हैं। अन्तःपृष्ठ दीखता नहीं किन्तु उसका स्पर्श होता है। अतएव इसे स्पृश्य पुण्डरीक कहा जाता है। बहिःपृष्ठ प्रत्यक्ष होने के कारण दृश्य पुण्डरीक कहलाता है। इस प्रकार हृत्पुण्डरीक, अन्तःपुण्डरीक और बहिःपुण्डरीक तीन पुण्डरीक एक पिण्ड के सम्बन्ध में होते हैं। नाभि में स्थित ब्रह्मा तीनों पुण्डरीकों में विराजमान है। प्रजापति ब्रह्मा स्वयं अनुत्पन्न है, स्वयम्भू है, परन्तु सब कुछ इन्हीं से उत्पन्न होता है। ब्रह्मा ही सारे जगत् का मूलकारण है। सबसे पहले स्वयम्भू ब्रह्मा से अप् जलीय अवस्था (Liquid state) उत्पन्न होती है प्राणमय स्वयम्भू से उत्पन्न होने वाले इसी आपोमय समुद्र को परमेष्ठि-मण्डल कहते हैं।

परमेष्ठि-मण्डल में सूर्य विराजमान है। सूर्य के गिर्द पृथ्वी घूम रही है। पृथ्वी की भूमध्य रेखा से उत्तर की ओर प्रायः मनुष्य सृष्टि है और दक्षिण की ओर प्रायः जलीय समुद्र है। पृथ्वी की उत्तर और दक्षिण दिशाएं नियत रहती हैं। इसलिए सूर्य ६ मास तक भूमध्य रेखा से उत्तर दिशा में रहने वाले मनुष्यों के सामने रहता है और ६ मास तक पीछे रहता है। जब सामने उत्तर में रहता है तब उत्तरायण काल और जब पीछे रहता है तब दक्षिणायन काल होता है। पृथ्वी का एक चक्कर सूर्य के गिर्द लगने पर 'संवत्सर चक्र' कहलाता है। इसी संवत्सर चक्र को 'संवत्सर प्रजापति' कहते हैं। इस प्रजापति के अयन, ऋतु, मास, अर्धमास, दिन, रात ये अङ्ग हैं। यह प्रजापति जो सृष्टियज्ञ कर रहा है उसको समझने के लिए पृथ्वी जिस धरातल में चक्र काटती है उस सम्पूर्ण धरातल को भिन्न भिन्न भागों में विभक्त किया गया है। पृथ्वी से सूर्य की दूरी लगभग ९ करोड़ ३० लाख मील है। इस दूरी को २१ भागों में विभक्त किया है। २१ वें भाग पर सूर्य का केन्द्र लिखा है। एक भाग ४४ २८ ५७१ मील अर्थात् लगभग चवालीस लाख मील के बराबर है।

प्रथम (९ भागों (का) नाम त्रिवृत्स्तोम है अर्थात् ४४००००० ×९=३९६००००० लगभग ४ करोड़ मील तक त्रिवृत्स्तोम कहलाता है।

इन ९ भागों में अगले ६ भाग और मिलने से छः भाग पंचदश स्तोम कहलाते हैं। लगभग साढ़े ६ करोड़ मील तक पञ्चदश स्तोम है। पंचदश स्तोम में ६ भाग और मिलाने से ये ६ भाग एक विंशस्तोम कहलाते हैं। एक विंशस्तोम में और ६ भाग मिलाने से ये ६ भाग त्रिणव स्तोम कहलाते हैं। फिर और ६ भाग मिलाने से ये ६ भाग त्रयस्त्रिंश स्तोम कहलाते हैं। इसी प्रकार आगे आगे ४८ स्तोम तक विस्तार किया है। इसको चित्र से संक्षेप में इस प्रकार दिखा सकते हैं—

१—अग्नि

भूलोक १ से ९ तक त्रिवृत्स्तोम—अग्नि देवता।
भुवः लोक १० से १५ तक पञ्चदशस्तोम—वायु देवता।
स्वः लोक १६ से २१ तक एकविंशस्तोम—आदित्यदेवता,
वायु और आदित्य भी अग्नि के रूप हैं।

सोम

परमेष्ठि-लोक २२ से २७ तक त्रिणवस्तोम—सोमदेवता
स्वयम्भू लोक २८ से ३३ तक त्रियस्त्रिंशस्तोम—चित्त देवता।

२—परोरजः

१ से १७ तक सप्तदशस्तोम
१८ से २४ तक यज्ञ स्कम्भ

१७ पर वैश्वानर अग्नि बनता है। यहीं अन्तपृष्ठ है। २१ पर बहिःपृष्ठ है और ३३ पर पारावत पृष्ठ है।

यज्ञ का सम्बन्ध पृथ्वी और द्यु में रहने से १ से २१ तक यज्ञ माना है उसके बाहर यज्ञ नहीं है।

वाक्, गौ और द्यु रूप जो भू प्राण है उसके ८ भेद हैं इन ८ को वसु कहते हैं। अन्तरिक्ष प्राण के ११ भेद हैं। इन ११ को रुद्र कहते हैं। ज्योतिः, गौ और आयु रूप जो द्यु प्राण हैं उसके १०७० भेद हैं इनको आदित्य कहते हैं। १०७० प्रकार के प्राण सूर्य रश्मि में रहते हैं। इनमें ज्योतिः रूप प्राण देव कहलाते हैं और यह ३३ हैं। इनका मेल ज्योतिष्टोम कहलाता है। इसी प्रकार सूर्य रश्मिस्थ गो प्राण के १००१ भेद हैं। इनको भूत कहते हैं। इन्हीं को मिलाकर गोस्तोम कहा जाता है। इसी प्रकार तीसरे प्रकार के प्राण आयु हैं, ये ३६ हैं। इनका नाम आत्मा है। इन्हीं को मिलाकर आयुःष्टोम कहा जाता है। ३३ देवों में १२ प्रवर हैं, वे आदित्य कहे जाते हैं। सूर्य की रश्मि में इस प्रकार १०७० प्राण हैं। रश्मि को विष्कलन करने से ये सब पृथक् २ जाने जा सकते हैं। प्रत्येक प्राण का गुण धर्म दूसरे से भिन्न है। इन सब का विज्ञान वेद में है। इस सम्पूर्ण विज्ञान को जान लेना ही वैदिक-विज्ञान को प्राप्त करना है।

क्षिय-वेदि अर्थात् पृथ्वी के घूमने के धरातल पर स्तोमों का विस्तार विकलन किया है। अब छन्दों के विषय में कुछ कहना है। शतपथ ब्राह्मण में वेदि को छन्दों से घेरना लिखा है। छन्द का अर्थ ही घेरा है। गायत्री अग्नि का छन्द है। त्रिष्टुभ् वायु का छन्द है। और जगती आदित्यों का छन्द है। पृथिवी से सूर्य तक सम्पूर्ण वेदि २१ भागों में विभक्त की थी। इस प्रकार कक्षावृत्त (ecliptic) गत सम्पूर्ण क्षेत्र का व्यास ४२ भागों में विभक्त रहता है पृथिवी से परे ८ भागों तक की दूरी लेकर सूर्य के चारों ओर एक वृत्त बनता है जो गायत्र छन्द है। पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती जाती है और पृथ्वी और इस गायत्र छन्द का मध्यगत स्थान पार्थिव अग्नि का स्थान रहता है। गायत्र छन्द से परे २२ भागों पर सूर्य के गिर्द एक वृत्त बनता जाता है जो त्रिष्टुप् छन्द है। इस त्रिष्टुप क्षेत्र में ही सूर्य रहता है। त्रिष्टुप् छन्द से परे १२ भाग लेकर सूर्य के गिर्द एक वृत्त रहता है जो जागत छन्द है। यह जागत छन्द पृथ्वी का कक्षावृत्त (ecliptic) है। इस प्रकार भू कक्षावृत्त का व्यास ४२ भागों में विभक्त रहता है। पृथ्वी का गायत्र छन्द, अन्तरिक्ष का त्रैष्टुभ् और द्युका जागत छन्द उत्पन्न होता है। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में आधिदैविक यज्ञ को या यज्ञ-विज्ञान को अनेक प्रकार से समझाया है। कौन २ सा प्राण व देवता कहां कहां उत्पन्न होता है उस सब का भी निर्देश किया है।

वह दिव्यात्मा जो इस विश्व का आधार है उसके साथ यजमान मनुष्य अपनी आत्मा को और अन्य प्राणों के साथ अपने प्राणों को एक करता है। इस प्रकार उसका स्वरूप साधारण न रह कर दिव्य बन जाता है। ऐसा करलेने की विद्या यज्ञविद्या है और

इस विज्ञान को जानने वाले वैज्ञानिक मनुष्य ही मनुष्य को दिव्य स्वरूप प्राप्त करा सकते हैं।

इस प्रकार मनुष्य को अपना सम्पूर्ण कृत्य आधिदैविक यज्ञिय कृत्य के आधार पर यज्ञिय करना पड़ता है। जैसा दैव करते हैं वैसा जानकर ही मनुष्य अपनी इच्छा के बल से करे तो अवश्य उसको सफलता होती है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य महर्षि ने सम्पूर्ण यज्ञ-प्रक्रिया आधिदैविक सृष्टि यज्ञ प्रक्रिया के आधार पर खड़ी की है। प्राचीन ऐसी परिपाटियों का खण्डन किया है जो सृष्टियज्ञ के आधार पर चली हुई नहीं थीं। यज्ञिय प्रक्रिया के संशोधन का यह ही एक आधार हो सकता है कि जैसा सृष्टि यज्ञ में हो रहा है। उसके अनुसार संशोधन करने का अधिकार याज्ञवल्क्य ने निकाल दिया है। परन्तु प्रत्येक मनुष्य का काम नहीं कि वह यज्ञिय प्रक्रिया का संशोधन करने के लिए सन्नद्ध हो जाए। याज्ञवल्क्य महर्षि जैसी यज्ञिय तत्वविज्ञान के अवबोध की बुद्धि जबतक किसी में नहीं पैदा होती तबतक उसको यज्ञ पद्धति के बदलने का अधिकार नहीं।

शतपथ ब्राह्मण यज्ञिय तत्वविज्ञान को खोलता है, इसलिये सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को समझने की कुञ्जी है। इस कुञ्जी के स्वरूप को ठीक ठीक तो वही बतला सकता है जिसने शतपथ के बतलाए तत्व को हस्तामलकवत् स्पष्ट करलिया हो। परन्तु मेरा यह अल्प प्रयास भी कुछ न कुछ अवश्य ही वेद के प्रेमियों को उत्साहित करने में सहायक होगा और उनके विचार से मेरा विचार तथा उत्साह और भी अधिक बढ़ेगा ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

मातृभूमि और वेद

[ले०—श्री पं० प्रियव्रतजी वेदवाचस्पति]

पूर्ण विकसित राज्य की किसी जन-समुदाय में तबतक सम्भावना नहीं हो सकती जबतक कि उस जन-समुदाय की अपनी कोई स्थिर भूमि न हो। उसका कोई अपना देश (Country) न हो, और वह उसे अपनी मातृभूमि न समझता हो, उसकी उन्नति और रक्षा के लिये उसी प्रकार कष्ट सहने के लिये तय्यार न हो जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी जन्मदात्री माता की रक्षा के लिये सब तरह के कष्ट सहने के लिये तय्यार रहता है। किसी देश को मातृभूमि समझने का अभिप्राय यह है कि जिस तरह एक व्यक्ति अपनी जन्मदात्री माता को, उसके सब गुण दोषों के साथ, अपना समझता है, उसकी हरएक बात और चीज़ की रक्षा के लिये तय्यार रहता है, इसी प्रकार राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने देश की चीज़ को-हरएक व्यक्ति को—अपना समझे। उसके भूत, वर्त्तमान और भविष्य इतिहास के साथ उसकी उसी तरह घनिष्ट आत्मीयता रहे जिस तरह जन्मदात्री माता के भूत वर्त्तमान और भविष्य इति-

ह्रास के साथ किसी पुत्र की रहती है। जबतक लोगों में मातृभूमि का भाव पैदा नहीं होता तबतक उनमें राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। लोगों में इस भाव के न रहने पर स्थापित राज्य (States) भी नष्ट हो जावेंगे। किसी अपनो मातृभूमि के न रहने कारण-किसी देश के साथ माता की सी आत्मीयता और प्रेम न रहने के कारण-ही फिरन्दर जातियों में किसी ऊंचे राज्य की स्थापना नहीं हो पाती। उनकी राज्य-संस्था कुटुम्ब या गार्हपत्य (Family) की अवस्था तक ही सीमित रहती है, उसका आगे विकास नहीं होता। वेदों में अगर आदर्श राज्यसंस्था का वर्णन किया गया है तो उसकी स्थापना और रक्षा के लिये यह भी आवश्यक है कि लोगों को यह उपदेश भी दिया जावे कि तुम लोग किसी न किसी भूखण्ड को अपनी मातृभूमि समझा करो। अतः देखना चाहिये कि वेदों में लोगों को मातृभूमि के भाव का उपदेश भी दिया गया है या नहीं ?

अथर्ववेद के १२ वें काण्ड का पहिला सूक्त एक बहुत बड़ा सूक्त है। इस सूक्त के ६३ मन्त्र हैं। इस सूक्त को भूमि सूक्त कहते हैं। इस सारे सूक्त में इस बात की शिक्षा दी गई है कि मनुष्यों को अपनी जन्मभूमि के प्रति किस प्रकार के भाव रखने चाहियें। जैसे ओजस्वी भाव मातृभूमि के प्रति इस सूक्त में प्रदर्शित किये गये हैं वैसे ओजस्वी भाव शायद ही किसी देश के प्रचलित राष्ट्रिय गीतों में पाये जावें। इस सूक्त को "मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रिय-गीत" कह सकते हैं। यहां इस सूक्त में से दो चार ऐसे मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं जिनमें अपने देश को माता समझने और उसके प्रति नमस्कार करने का अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है।

सा नो भूमि र्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।

(अथर्व० १२।१।१०)

अर्थात्—"माता भूमि (मातृभूमि) मुझ पुत्र के लिये पय अर्थात् दुग्ध आदि पुष्टिप्रद पदार्थ प्रदान करे।"

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

(अथर्व० १२।१।१२)

अर्थात्—"भूमि (अपना देश) मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूं।"

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः।

(अथर्व० १२।१।१५)

अर्थात्—"हे मातृभूमि ! हम मरणधर्मा मनुष्य तुझसे उत्पन्न होते हैं और तुझ पर ही घूमते फिरते हैं।"

भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन् मातृमद्भ्यः।

(अथर्व० १२।१।६०)

अर्थात्—'जो (भुजिष्य) भोगसामग्री और (पात्र) रक्षासाधन (गुहानिहित) पृथ्वी में छिपे रहते हैं वे मातृमानों (अपने देश को माता समझने वालों) के लिये आविर्भूत अर्थात् प्रकट होते हैं।"

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।

(अथर्व० १२।१।६३)

अर्थात्—"हे मातृभूमि तू मुझे अच्छी तरह प्रतिष्ठित करके रख।"

"मातृभूमि के भाव" कितने स्पष्ट और सुन्दर शब्दों में इन मन्त्रों में प्रदर्शित किये गये हैं, इसको बतानें के लिये किसी टीका की जरूरत नहीं है। मंत्र अत्यन्त साफ और सरल हैं। कई लोग कह सकते हैं

कि इस सूक्त में सारी पृथ्वी को ही माता करके संबोधन किया गया है। परिमित रूप में मातृभूमि के भाव की इस सूक्त में शिक्षा नहीं दी गई। परन्तु समग्र सूक्त को यदि ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो किसी के मन में यह शंका उत्पन्न नहीं हो सकती। सूक्त स्पष्ट शब्दों में मातृभूमि के प्रति ही भाव प्रदर्शन की शिक्षा दे रहा है। निम्न दो चार मन्त्र इसे बिलकुल साफ कर देंगे।

इसी सूक्त के ११ वें मन्त्र में पृथ्वी को "इन्द्रगुप्ताम्" कहा गया है। जिसका अर्थ "सम्राट् द्वारा रक्षित" होता है। इन्द्र का अर्थ सम्राट्[1] है। इसे वैदिक विद्वान् जानते ही हैं। पृथ्वी को सम्राट् द्वारा रक्षित कहना स्पष्ट सिद्ध करता है कि बोलने वाले के मन में अपने राजा का ख्याल है और वह अपनी मातृभूमि को ही सम्बोधन कर कह रहा है। ४३ वें मन्त्र में कहा गया है कि "यस्याः पुरो देवकृता" अर्थात् —"जिसके नगर देव अर्थात् कुशल शिल्पियों के बनाये हुए हैं।"

(दिवु धातु का अर्थ व्यवहार भी है अतः देव का अर्थ व्यवहार-कुशल शिल्पी हो सकता है)

इस प्रकार की स्तुति से भी यही प्रतीत होता है कि स्तोता के मन में अपनी मातृभूमि का ही ध्यान है। ४७ वें मन्त्र में कहा है—

"ये ते पन्थानो बहवो जनायमा रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे"

अर्थात्—"जो तेरे पैदल चलने के, रथों के और बैलगाड़ी के मार्ग हैं"— इससे भी यही मालूम होता है कि स्तोता अपनी मातृभूमि के विभिन्न पथों का वर्णन कर रहा है। ५६ वां मन्त्र इस प्रकार है—

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥

अथर्व० १२।१।५६

"हे मातृभूमि! तेरे ग्रामों, जङ्गलों, सभाओं, युद्धों और समितियों में तेरे लिये भद्र ही बोलें।" इस मन्त्र से साफ़ ही हो जाता है कि स्तोता के मन में अपनी मातृभूमि का ही ख्याल है। नहीं तो भूमि के लिये उपर्युक्त स्थानों में चारु बोलने का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। १४ मन्त्र हमारे अभिप्राय को और साफ़ करता है। यथाः—

यो नो द्वेषत् पृथिवी यः पृतन्यात्।
योभिदासात् मनसा यो बधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि॥

(अथर्व० १२। १।१४)।

"जो हम से द्वेष करता है या सेना लेकर चढ़ाई करता है, या हमें मन की सहायता से, या शस्त्र की सहायता से दास बनाना चाहता है, हमारे कामों को पूर्ण करने वाली हे भूमि! तू उसको राँध दे।" सेना लेकर चढ़ाई करने वाले को रान्धने के लिये भूमि से प्रार्थना करने का अभिप्राय यही मालूम होता है कि प्रार्थना करने वाले के मन में स्वराष्ट्र और परराष्ट्र का ज्ञान (Idia) है। प्रार्थयिता अपने राष्ट्र पर आक्रमण करने वाले को पराभूत करने के लिये अपनी भूमि (राष्ट्र) से प्रार्थना कर रहा है। इसी सूक्त का ६२ वां मन्त्र कहता है:—

"दीर्घं न आयुः प्रति बुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम"।

अर्थात् "हे भूमि! हमारी आयुएं लम्बी २ हों, और हम सदा तुझे (बलिहृतः स्याम) । कर देते रहें

[1]—यथाः—इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा (यजु० ८।३७), सम्पादक।

भूमि को कर देने का अभिप्राय नहीं समझ में आ सकता यदि यह न माना जाय कि बोलने वाले के मन में अपनी मातृभूमि या राष्ट्रिय सरकार का ध्यान है।

मातृभूमि के भाव की शिक्षा देने वाले दो एक मन्त्र और उद्धृत करके हम इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। अथर्व० ५।२१।११। में लिखा है—

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्रमृणीत, शत्रून्।

अर्थात हे (पृश्निमातरः) "अपने देश को माता समझने वाले उग्रसैनिको! (इन्द्रेण[1] युजा) तुम अपने सेनापति के साथ मिल कर (प्रमृणीत) शत्रुओं को मारो।" तैत्तिरीय १।४।१।५। में पृश्नि का अर्थ, 'यह भूमि पृश्नि है,' ऐसा किया है। अतः "पृश्निमातरः" का अर्थ हुआ "भूमि मातरः" अर्थात् भूमि को अपनी माता समझने वाले। सारे सूक्त का विषय दुन्दुभि बजाती हुई विजिगीषु-सेनाओं (देवसेनाः) का शत्रुओं पर चढ़ाई करना है। अतः इस प्रकरण में सैनिकों को "पृश्निमातरः" कहना सिद्ध करता है कि सैनिक अपने देश को ही माता समझ रहे हैं। ऐसे अवसर पर पृश्नि का अर्थ समग्र भूमि न लेकर मातृभूमि ही लेना अधिक संगत प्रतीत होता है। अथर्ववेद १३।१।३। में भी आधा मन्त्र उपर्युक्त ही है। वहां भी "पृश्निमातरः" का अर्थ अपने देश को माता समझने वाले ऐसा करना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। इस सूक्त में राजा राष्ट्र को "रोहित" (परमात्मा) का समझ कर स्वीकार करता है"—इस विषय का वर्णन है। अतः यहां भी "पृश्नि मातरः" में पृश्नि का अर्थ अपना देश ही करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसी प्रकार यजुर्वेद (९।२२) में आता है—

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै।

अर्थात् "मातृभूमि को नमस्कार है, मातृभूमि को नमस्कार है।" इस मन्त्र में पृथिवी का अर्थ अपना देश या जन्मभूमि लेना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इस अध्याय की शतपथ ब्राह्मण में राजसूय विषयक व्याख्या की गई है। इस मन्त्र से ऊपर के २१ वें मन्त्र में आता है "प्रजापतेः प्रजा अभूम" अर्थात् "हम प्रजापति अर्थात् इस अभिषिक्त राजा की प्रजा हो गए हैं।" इस प्रकार प्रकरण देखने से प्रतीत होता है कि प्रजाजन राजा के अभिषिक्त हो जाने पर अपने को उसकी प्रजा कहते हैं और अपने देश (मातृभूमि) को नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि वेद में मातृभूमि के उस भाव की जो राज्य (State) के उच्च विकास की आवश्यक शर्त्त है, यथेष्ट शिक्षा पाई जाती है।

[1]—इन्द्र का अर्थ सेनापति भी होता है।

स्कम्भ सूक्त

मन्त्रार्थ और भाव

[ले०—श्री पं० वीरेन्द्रजी विद्यावाचस्पति]

(२)

संसार के संचालक मानसिक तत्त्व और नैतिक तत्त्व उस परमेश्वर-स्कम्भ-के किस अंग में है ?

कस्मिन्नङ्गे तपो ऽ स्याधितिष्ठति
कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम् ।
क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति
कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥१॥

इसके किस अंग में तप[1] (आलोचनात्मक a ज्ञान अथवा कष्ट b सहने की शक्ति) स्थित है ? इसके किस अंग में ऋत[2] (दैवीय नियम a या कर्म फल अथवा समाज धारक व्यवहार b) रखा हुआ है ? इसके किस अंग में व्रत[3] (संकल्प अथवा पूर्ण निश्चय) और किस अंग में श्रद्धा (वास्तविक धारणा अथवा धार्मिक विश्वास) उपस्थित हैं ! और इसके किस अंग में सत्य[4] (नित्य नियम अथवा सचाई) प्रतिष्ठित है ?!

संसार की उत्पत्ति के लिये परमेश्वर पहले ईक्षण[5] करता है, विचार (Design) करता है, अपने में आलोचनात्मक ज्ञान का प्रारम्भ करता है कि किस तरह प्राणियों के कर्मानुसार संसार बनना चाहिये। यही उसका तप[5] है। इस ज्ञान के बाद इच्छा वा कामना[5] का प्रादुर्भाव होता है अर्थात् वह संकल्प करता है कि संसार बनाना है। इसी को 'व्रत' या बलक्रिया[6] कहते हैं। संकल्प के बाद उस संकल्प के लिये परमेश्वर में वास्तविक धारणा हो जाती है कि संसार बनाया

---

१. तप = a आलोचनात्मके ईश्वर ज्ञान मेये। अन्तर्यामि ब्राह्मण भाष्ये b क्षुत्पिपासा शीतोष्णादि द्वन्द्वसहने कामेन्द्रियमनसां समाधाने । वाचस्पत्य कोषे ।

२. ऋत = a कर्मफले 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' (कठ० उप० १।३।१) ।

b "Right, Devine law, Devine truth और Sacred or Piousaction or custom" Sanskrit English Dictionary By Monires Williams.

३. व्रत = व्रतं च सम्यक् संकल्प जनितानुष्ठेयक्रिया विशेष रूपम् । वाचस्पत्य कोषे ।

४. सत्य = उन नियमों को कहा जाता है जो त्रिकाल में अबाधित हैं, सनातन हैं।

सत्यमेव जयते नानृतम्, सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येना क्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।

५. सोयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत भूयान् स्याम् प्रजायेयेति, सो ऽ श्राम्यत् तपो ऽ तप्यत । शतपथ० ६।१।१॥

तदैक्षत बहुस्याम् प्रजायेति... (छा० उ० ६।२।३) ।
आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किंचनमिषत् स ऐक्षत लोकान्नुसृजा इति । ऐत० उप० ख० १ ॥

६. परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वेता० ६।२०) ।

जाय और संसार बनाने लगता है इसे 'श्रद्धा' कहते हैं। यह तप, व्रत और श्रद्धा परमेश्वर में मनमाने उत्पन्न नहीं हो जाते उनके आधार में दो नियम हैं। एक दैवीय नियम या दूसरे शब्दों में कर्म फल का नियम और दूसरा नित्य नियम। परमेश्वर संसार की उत्पत्ति, मनुष्यों के कर्मों के अनुकूल ही उन्हें फल देने के लिये, सृष्टि उत्पत्ति के लिये होने वाले सनातन नियमों के अनुसार करता है। इस तरह उसके तप, व्रत, और श्रद्धा "ऋत और सत्य" के आधीन हैं। इन्हीं संसारोत्पत्ति के प्राथमिक तत्त्वों के सम्बन्ध में प्रश्न है कि ये स्कम्भ के किस अंग में अधिष्ठित हैं ?

इसी तरह संसार के चलाने के लिये कुछ नैतिक सिद्धान्त हैं। उनमें से तप, व्रत और श्रद्धा तथा ऋत और सत्य अत्यन्त आवश्यक हैं। मनुष्य में जबतक कष्ट सहने की शक्ति नहीं है तबतक वह किसी पुण्य कार्य के लिये 'व्रत' या पूर्ण निश्चय नहीं कर सकता। तप के बाद व्रत आता है। व्रत भी तबतक सफल नहीं हो सकता जबतक कि मनुष्य में उस व्रत के लिये श्रद्धा न हो। यज्ञ करना एक पुण्य कार्य है, पर उसके लिये मनुष्य में कष्ट उठाने की ताकत और उसके लिये संकल्प होना चाहिये और फिर इस यज्ञ को करने में पाप संकल्प (Bad motive) न होना चाहिये, अपितु श्रद्धा होनी चाहिये। पर ये तीनों भी "ऋत-सत्य" पर चलते हैं। ऋत कहते हैं सामाजिक व्यवहारों, रीति रिवाजों या संस्कारों को; और सत्य कहते हैं नित्य-नियमों को। सामाजिक रीति रिवाज भिन्न २ समय और देशों में भिन्न २ हो सकते हैं, पर नित्य नियम एक होंगे। प्रणाम करने के तरीके भिन्न हो सकते हैं पर बड़ों का सत्कार करना यह आवश्यक नियम सर्वत्र सदैव रहेगा। सत्य, अहिंसा आदि नित्य नियम हैं, पर शिष्टाचार समाज व्यवहार पर आश्रित है। इन्हीं नैतिक सिद्धान्तों के बारे में प्रश्न है कि वे स्कम्भ के किस अंग में हैं।

त्रिलोकस्थ देवता उस स्कम्भ के किस अंग में अपना काम कर रहे हैं ?

कस्मादङ्गाद्दीप्यते अग्निरस्य,
कस्मादङ्गात्पवते मातरिश्वा ।
कस्मादङ्गात् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा
महः स्कम्भस्य मिमानो ऽ ङ्गम् ॥२॥

इसके किस अंग से अग्नि चमक रही है, किस अंग से हवा बह रही है, और किस अंग से चन्द्रमा महान्[1] स्कम्भ के अंग पर गुजरता[2] हुआ (अपने मार्ग को) मापता[3] है।

आग, हवा और चन्द्रमा रोज हमारे सामने आने वाली घटनाएं हैं। रोज हमारा उनसे काम चलता है। आग को देखकर यह स्वाभाविक प्रश्न होता है कि यह उस संसार के आधार—स्कम्भ—के किस अंग से चमक रही है। हवा के बिना हम क्षणभर भी जीवन धारण नहीं कर सकते। यह हवा उसके किस अंग से झोंके ले रही है। चन्द्रमा को चाँदनी हमारा रोज मनोरञ्जन करती है। चन्द्रमा बादलों के होने पर हमें भागता हुआ नजर आता है, बादल न भी हों तो भी वह रोज पूर्व से पश्चिम को गति कर रहा है। वह गति करता हुआ हमारे काल के परिमाण को बना रहा है। शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष १५,१५ दिन के होते

१. महः = महतः
२. मा = गतौ
३. माङ् = माने शब्दे च (जुहोत्यादिः) ॥, ईङ् हल्यघोः। पा०६।४।११३॥

हैं। इन दो भागों से मिलकर एक मास बनता है। १२ मासों से एक वर्ष। इस तरह चन्द्रमा काल को माप रहा है। पर ये माप अपने मार्ग में गति करते हुए ही स्थित हैं। इस चन्द्रमा के बारे में प्रश्न है कि भला वह परमात्मा के किस अंग में अपना मापने का काम कर रहा है[४]।

तीन लोक उस स्कम्भ के किस अंग में स्थित हैं ?

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥३॥

'इसके किस अंग में भूमि खड़ी है, अन्तरिक्ष किस अंग में ठहरा हुआ है, किस अंग में द्युलोक जड़ा रखा है, और किस अंग में द्युलोक से भी ऊपर वाले प्रदेश रखे हैं ?।

लोकों को, जिनका हमें साधारणतया ज्ञान है तीन भागों में बांटा गया है। १. पृथिवी २. अन्तरिक्ष ३. द्युलोक। हम पृथिवी पर रहते हैं। इससे ऊपर का भाग जो हमें दीख रहा है जिसमें हवा बहती है, बादल उड़ते हैं और गर्जते हैं, बिजली चमकती है उस भाग को अन्तरिक्ष कहा जाता है। अन्तरिक्ष के ऊपर का भाग जिस में नाना सूर्य, नक्षत्र आदि हैं द्युलोक कहाता है। संसार के देवताओं को इन्हीं तीनों लोकों में बांटा गया है। अग्नि आदि पृथिवी स्थानीय देवता हैं, विद्युत् आदि अन्तरिक्ष स्थानीय और सूर्य आदि द्युस्थानीय। इस मन्त्र में उन निवासी देवताओं के निवास स्थान अर्थात लोकों के बारे में ही प्रश्न किया है कि वे उस स्कम्भ के किस अंग में हैं। इन तीनों लोकों से भी परे एक क्षेत्र है जिसका हमें ज्ञान नहीं पर हम कल्पना अवश्य कर सकते हैं। कई नक्षत्रों का प्रकाश (जिस प्रकाश की गति आकाश में १ सैकण्ड में १ लाख ८६ हज़ार मील है) हम तक पहुंचने में हज़ार वर्ष ले लेता है। इससे हमें कल्पना करनी पड़ती है कि इन से परे भी भिन्न २ लोक हो सकते हैं जिन का हमें ज्ञान नहीं। इसी क्षेत्र को 'दिवः उत्तरम्' कहा गया है। उसके बारे में भी प्रश्न है कि वह उस विस्तृत स्कम्भ के किस अङ्ग में है।

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु का विभाग हरएक ग्रह में रहने वाले के लिये अपने सौर मण्डल से समझा जा सकता है। और उससे बचा हुआ क्षेत्र जो अपने सौर मण्डल में नहीं 'दिवः उत्तरम्' से लिया जा सकता है।'

पूर्वोक्त तीन मन्त्रों में इन प्रश्नों के पूछने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह स्कम्भ कितना महान् है जिसके कि छोटे २ अङ्गों में ये महान् लोक प्रवेश पा रहे हैं। उसकी कितनी महान् शक्ति है जिसकी शक्ति के एक छोटे भागमात्र सूर्य, चन्द्रमा, सत्य, ऋत तथा तीनों लोक आदि हैं।

आग, हवा और पानी किसे पाने की इच्छा रखते हुए अपना २ काम कर रहे हैं ?

क्व प्रेप्सन् दीप्यते उर्ध्वो अग्निः,
क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा।

४. चान्द्रमास का अब भी पवित्र कार्यों में उपयोग होता है। हिन्दुओं के सब त्योहार, पवित्र पर्व; मुसलमानों के तो न केवल पवित्र पर्व ही पर सारी कालगणना और ईसाइयों के भी पवित्र त्योहार इसी चान्द्र गणना के अनुसार होते हैं। इसी तरह अन्य छोटे मोटे धर्मों में भी है। भारत के बहुत बड़े भाग में चान्द्र वर्ष का ही उपयोग होता है।

यत्र प्रेप्सन्ती रभियन्त्यावृतः,
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥४॥

'कहां जाने की इच्छा रखता हुआ अग्नि ऊपर की तरफ़ जला करता है, कहां जाने की इच्छा रखती हुई हवा बहा करती है और कहां जाने की इच्छा रखते हुए आवर्त्त (जल के चक्कर या हवा के बबूले) चक्कर खाया करते हैं, उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है ?, निश्चय ही वह 'कतम' अर्थात्-सब से अधिक सुख स्वरूप है।

आग का स्वभाव ऊपर की तरफ़ जलना है उस को देख कर यह प्रश्न होता है कि कहां जाने की इच्छा रखती हुई वह ऊपर की तरफ़ जलता जा रहा है। हवा का स्वाभाविक स्वरूप गति है इसीलिये उसे सदागति कहते हैं। वह सदागति किसे अविराम भाव से ढूंढता चला जारहा है ? वह निरन्तर गति करता हुआ कहां स्थिर होना चाहता है। वह जगह कहीं बहुत दूर तो नहीं है जिसमें ये अपना काम कर रहे हैं। वह तो वही है जिसमें नदियों में होने वाली भंवरें और हवा में होने वाले बबूले जाने की इच्छा रखते हुए चक्कर काट रहे हैं। वह स्कम्भ-आधारभूत-परमात्मा-बताओ तो सही कौनसा है जिसमें यह सब कुछ हो रहा है।

इस मन्त्र में कितनी सुन्दर कवितामय भाषा में इस बात को रख दिया गया है कि आग, हवा और पानी परमेश्वर की इच्छा से ही चल रहे हैं और अपने उद्देश्य को उस परम उद्देश्य में लीन कर रहे हैं। साथ ही प्रश्नों द्वारा ही मनुष्य की उत्सुकता को बढ़ाते हुए 'स्कम्भ क्या है ?' इसका उत्तर भी दिया गया है।

काल का भी पर्यवसान किसमें है ?

क्वार्धमासाः क्व यान्ति मासाः
संवत्सरेण सह संविदानाः।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥५॥

'कहां पक्ष (अर्धमास) चले जा रहे हैं, कहां महीने वर्षों के साथ मिले हुए चले जा रहे हैं ? जहां ऋतुएं और अयन (ऋतु समूह) चले जा रहे हैं उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है ?

महीना ३० दिन का होता है। उसका आधा पक्ष (अर्धमास) १५ दिन का होता है। १२ मासों से मिल कर (संविदान होकर) वर्ष बनता है। एक वर्ष में ६ ऋतुएं आती हैं और तीन तीन ऋतुओं से मिल कर ऋतुसमूह अर्थात् आर्तव या अयन बनते हैं।

इस सारे काल परिमाण के विषय में प्रश्न है कि यह कहां जा रहा है ? पक्ष आते हैं और बीत जाते हैं। महीने, ऋतुएं, अयन और वर्ष बराबर आते और बीतते चले जारहे हैं ? ये सब कहां चले जारहे हैं ? किस अनन्त में ये विलीन होते चले जा रहे हैं, इसका कुछ पता नहीं। वर्षों बीतते चले जायं, पर उस अनन्त को ये सान्त न बना सकेंगे।

काल और देश का भी पर्यवसान किसमें है ?

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे
अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः
स्कम्भं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥६॥

भिन्न २ अर्थात् श्वेत और कृष्ण रूप वाली दो युवतियां अर्थात् श्वेत और रात की जोड़ी एक मत-

वाली होकर किसी को प्राप्त की इच्छा रखती हुई कहां भागती जा रही है? जल (नदी, नाले) जहां पहुंचने की इच्छा रखते हुए बह रहे हैं-उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है?

न केवल साल और महीने ही चले जा रहे हैं। उनको तो जाने में कुछ देर भी लगती है, पर ये काली गौरी रात-दिन नाम वाली दो युवा युवतियों की जोड़ी तो भागती ही जा रही हैं, दम भी नहीं लेतीं। इन्होंने सलाह (संविदान) करली है कि उसे पाकर छोड़ना है। अच्छा भागती चली जाओ, कितना भी भागो उसकी सीमा पर न पहुंच पाओगी। तुम्हीं नहीं, देखो ये नदी नाले भी भागते चले जा रहे हैं, पर वे भी उस अनन्त का अन्त नहीं पा सकेंगे। अरे! वह तो काल और देश दोनों दृष्टियों से अनन्त है।

ऊपर के तीन मन्त्रों में संसार की भिन्न २ वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रश्न है कि वे कहां जाने की इच्छा रखती हुई अपना अपना काम कर रही हैं; वे विराम क्यों नहीं लेतीं। विराम तो तब लें जबकि उनका उद्देश्य पूरा होजाय। इस प्रकार के वर्णन द्वारा शिक्षा दी गई है कि हे संसार की घटनाओं को देखने वाले! तू इन्हें देखता हुआ भी इस अनन्त और अनादि तथा सुखस्वरूप परमात्मा की ओर क्यों नहीं जाता? जड़ जगत् भी उसे पाने की इच्छा से व्याकुल है तो तू उसे पाने की इच्छा से व्याकुल क्यों नहीं होता! ऊपर के वर्णन इतने स्वाभाविक हैं कि उन्हें पढ़ते २ पाठक का मन एक बार तो कुछ काल के लिये उपरोक्त विचार धारा में बह ही निकलता है।

प्रजापति स्कम्भ के सहारे खड़ा है!

यस्मिन् स्तब्ध्वा प्रजापति-
लोकान् सर्वान् अधारयत्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥७॥

'जिसका सहारा लेकर-जिसमें खड़े होकर-प्रजापति ने सब लोकों को धारण किया हुआ है, उस स्कम्भ को बताओ तो सही वह कौनसा है?

प्रजापति का अर्थ संसार-रचयिता ब्रह्मा (परमात्मा) है। वह स्कम्भ के किस रूप में आश्रय लेता है इस का वर्णन आगे किया जायगा। वह प्रजापति जिसके आश्रय सब लोकों को धारण कर रहा है वह स्कम्भ कौनसा है?

प्रजापति का अर्थ सूर्य[1] भी है सूर्य लोकों को धारण करने वाला है। वह जिसका सहारा लेकर पृथ्वी चन्द्रादि लोकों का धारण कर रहा है वह महान् शक्ति कौनसी है?

(क्रमशः)

१—पर सूर्य अर्थ में 'सर्वान् लोकान्' में सर्वान् शब्द को कुछ संकुचित करना पड़ जाता है क्योंकि सूर्य सब लोकों को धारण नहीं कर रहा। वह इने गिने ग्रह-उपग्रहों को ही धारण कर रहा है।

ऋग्वेद में इतिहास के स्थल

आलोचना

लेखाङ्क (३)

राजा भावयव्य और रोमशा की कथा

[ले०—वेदभाष्यकार श्रीयुत पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालंकार मीमांसातीर्थ]

लेखाङ्क (२) में हमने ऋग्वेद के १५वें सूक्त के १ मन्त्र के अर्थों पर प्रकाश डाल कर बतलाया था कि उसमें भावयव्य राजा और कक्षीवान् की कथा का कुछ भी प्रसङ्ग नहीं है। अब हम क्रम से प्राप्त दूसरे मन्त्र की आलोचना करते हैं। ऋ० १ मण्डल के १२५ वें सूक्त का द्वितीय मन्त्र इस प्रकार है।

सुगुरसत् सुहिरण्यः स्वश्वो
बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो,
मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति ॥

इस मन्त्र पर सायण भाष्य इस प्रकार है।

अत्र कक्षीवतः पिता—आनीतेन धनेन सन्तुष्टो राजानं बहुप्रकारेणाशास्ते। असौ स्वनयो राजा सुगुरसत् शोभनैर्बहुभिर्गोभिस्तद्वान् भवतु। तथा सुहिरण्यः सुष्टुतहितरमणीयैर्धनैस्तद्वान् भवतु। तथा स्वश्वः शोभनैरश्वैस्तद्वान् सन्। अस्मै प्रदात्रे राज्ञे बृहत् प्रभूतं वयः अन्नं इन्द्रः परमेश्वरो धर्मदेवता दधाति दधातु ददातु। यतोऽयं राजा अस्मै गोहिरण्याश्वादीनि बहुसंख्याकानि दत्तवान् अतस्तेषामभिवृद्धिप्रार्थना उचितैव। कस्येयमाशीरिति स उच्यते। यः को राजा, हे प्रातरित्वः प्रातरागामिन् अतिथे पुत्र आयन्तं गुरुकुलादागतं पदि पथिकं यदृच्छया गन्तारं त्वा त्वां वसुना अन्नसाधनेन गवादिधनेन उत्सिनाति गमनतः उत्कृष्टं बध्नाति गतिं निरुणद्धि इत्यर्थः। प्रतिबन्धे दृष्टान्त उच्यते मुक्षीजयेव पदिं मुच्यमाना सति बन्धनं नयतीति मुक्षीजा मृगपक्ष्यादिबन्धनी रज्जुः तथा पाशको यथा पदिं गन्तारं मृगपक्ष्यादिकं उत्सिनाति बध्नाति तथा अननुज्ञातमपि त्वां गमनं प्रतिरुध्य, गवादीष्टदानादिना यो राजा तोषयति स एवं भवत्विति।

सायण भाष्य का अर्थ—इस मन्त्र में कक्षीवान् का पिता पुत्र के लाये धन से प्रसन्न होकर राजा को बहुत २ आशीष देता है—"वह राजा स्वनय (सुगुः असत्) उत्तम २ बहुत से बैलों वाला हो। उसी प्रकार (सुहिरण्यः) उत्तम प्रशंसित रमणीय धनों वाला हो। उसी प्रकार (स्वश्वः) सुन्दर अश्वों वाला हो। (अस्मै) इस दान देने वाले राजा को (इन्द्रः) परमेश्वर, धर्म देवता (बृहत् वयः) बहुत अन्न (दधातु) देवे। क्योंकि इस राजा ने उसे बैल सुवर्ण, अश्व, अन्न आदि बहुत से पदार्थ दिये हैं इसलिये उसकी बढ़ोतरी की प्रार्थना करना उचित ही है। यह आशीष किस के लिये है, कहते हैं।—(यः) जो राजा है (प्रातरित्वः) हे प्रातःकाल आने वाले अतिथे ! पुत्र ! (आयन्तं) गुरुकुल से आये (पदिं) पथिक, अकस्मात् आते हुए (त्वा) तुझको (वसुना) अन्न प्राप्त कराने वाले बैल आदि धन से

(उत्सिनाति) जाने से खूब अच्छे से बांधता अर्थात् तुझे जाने से रोकता है, इस रोकने में दृष्टान्त कहते हैं (मुक्षीजया इव पदिम्) 'मुक्षीजा' अर्थात् छोड़ी जा कर बन्धन को जीत ले वह मुक्षीजा कहाती है अर्थात् 'मुक्षीजा' मृग पक्षी आदि को बांधने वाली रस्सी, उससे जालिया जिस प्रकार (पदिं) जाने वाले मृग पक्षी आदि को (उत्सिनाति) बांध लेता है उसी प्रकार मेरे से अनुज्ञा न पाये हुए तुझको तेरे जाने से रोक कर बैल आदि इष्ट दान आदि से जो राजा संतुष्ट करता है वह ऐसा ऐसा हो।

(समीक्षा)—उक्त मन्त्र के कोष्ठगत शब्दों पर ध्यान देकर विचारने से भी स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे मन्त्र में भी कहीं राजा वा कक्षीवान् का नाम नहीं आया है। न कक्षीवान् के पिता का ही कोई संकेत है कि वह इस मन्त्र का प्रवक्ता कहा जा सके फलतः ये सब सायण ने पूर्वाचार्यों की * कही कथा के मोह में पड़ कर केवल कपोल कल्पना ही की है। 'अस्मै' पद से दाता राजा क्यों लिया कक्षीवान् क्यों न ग्रहण किया। इन्द्र से ऐश्वर्यवान् राजा स्वनयका ग्रहण क्यों नहीं होता, होना चाहिये क्योंकि अगले चरण में (यः) सर्वनाम उसीको परामर्श कर सकता है। अस्तु अब हम इसका स्वतन्त्र अर्थ पाठकों के समक्ष रखते हैं और पाठकों को गतांक में व्याख्या किये प्रथम मन्त्र की याद दिलाते हैं कि उसमें किस प्रकार ब्रह्मचर्यपालक व्रती के जीवन का वर्णन किया था। उसी प्रसंग में इस मन्त्र की व्याख्या पर ध्यान दीजिये।

स्वतन्त्र अर्थ—हे (प्रातः-इत्वः) प्रातः वेला में प्राप्त होने वाले ब्रह्मचारिन् (वसुना) 'वसु' रूप से (आयन्तं) आते हुए (त्वा) तुझको (यः) जो (मुक्षीजया इव पदिम्) वेग से जाने वाले पशु को रस्सी से जैसे बांधा जाता है वैसे तुझ पदि अर्थात् प्राप्त को 'मुक्षीजा' अर्थात्-मूंज की रस्सी से (उत्सिनाति) बांधता है। वह (इन्द्र) इन्द्र (अस्मै) इस शिष्य को (बृहत् वयः दधाति) बड़ा भारी ज्ञान, आयु, बल, धारण कराता है। और वह (सु-गुः) उत्तम 'गौ' वाला (सु-हिरण्यः) उत्तम 'हिरण्य' वाला और (सु-अश्वः) उत्तम 'अश्व' वाला (अस।) हो जाता है।

कितना सरल सीधा अर्थ है। इस मन्त्र में वसु, मुक्षीजा, पदि, इन्द्र, गौ, हिरण्य, अश्व आदि शब्द रहस्य पूर्ण हैं। इनकी व्याख्या करनी आवश्यक है। उनको स्पष्ट करते हैं। पूर्व मन्त्र में 'प्रातरित्वा' पद का अर्थ गतांक में विस्तार से लिख आये हैं। जीवन के प्रारम्भ काल में ज्ञान और बल के उपार्जन के लिये जो पुरुष गुरु के समीप जाता है वह 'प्रातरित्वा' कहाता है। इस मन्त्र के द्वितीय चरण में उसी नाम से उसको सम्बोधन किया गया है। हे 'प्रातरित्वः' हे जीवन के प्रभात या उदय काल में आने या गुरु के समीप जानेहारे शिष्यजन (यः) जो गुरु (वसुना आयन्तं) वसु रूप से आते हुए तुझको 'मुक्षीजा से बांध लेता है वह 'इन्द्र' इस प्रातरित्वा को बड़ा 'वयस्' धारण कराता है।

स्पष्ट हो गया कि जो अपने जीवन के उदय कालमें गुरु के समीप विद्या लाभ करने के लिये आता है वह वस्तुतः गुरु के समीप 'वसु' रूप में ही आता है। ब्रह्मचारी लोग 'वसु' कहाते हैं क्यों?

* बृहद्देवताकार शौनक।

क्योंकि वे गुरु के अधीन बसते हैं। गुरु के अधीन बसने से वे 'वसु' हैं।

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ४) में स्पष्ट बतलाया है कि जो ब्रह्मचारी २४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य पालन करते हैं वे 'वसु' संज्ञक हैं। मनु कहते हैं—

वसून् वदन्ति तु पितॄन्।
मनु, अ० ३।२१४ ॥

पिताओं को 'वसु' कहते हैं। पालन करने वाले माता पिताओं को 'वसु' कहा जाता है। फलतः व्रत के पालक अथवा ब्रह्मचर्य पूर्वक गृहस्थ में प्रजोत्पादन और पालन में लगजाने वाले विद्वान पुरुष 'वसु' कहाते हैं। फलतः उनमें 'वसु' होने की योग्यता का पैदा करना गुरु का कार्य है। गुरु के इस रूप से ब्रह्मचारी जबतक भी गुरु के समीप विद्याध्ययन, ब्रह्मचर्य का पालन और वीर्यरक्षा करता रहता है तबतक वह मनुप्रोक्त 'वसु' तैयार होता रहता है, तबतक उसको 'वसु' नाम भावी संज्ञासे ही कहा जाता है। गुरु या आचार्य के समीप वस्तुतः देश के भावी माता-पिता या 'वसु' ही तैयार हुआ करते हैं। वे राष्ट्र में बसने से 'वसु' कहाते हैं। वे गृह बना कर राष्ट्र में बसते हैं, वे ही 'पस्त्या' प्रजा आदि नाम से भी कहे जाते हैं। वे राजा रूप प्रजापति के 'वसु' हैं अतः मनु ने माता पिता को 'वसु' कहा है। परन्तु आचार्य (राजा) रूप 'इन्द्र' नाम कुलपति या प्रजापति के अधीन बसने वाले अन्तेवासी शिष्य ब्रह्मचारी लोग ही 'वसु' कहलाते हैं। वेद का 'वसु' पद इस मन्त्र में अभी इसी अभिप्राय को स्पष्ट कर रहा है। मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि जो व्यक्ति अपने जीवन के प्रथम वयस में गुरु के समीप 'वसु' रूप से अर्थात् उसके अधीन अन्तेवासी होकर आता है उसको वह 'मुक्षीजा' से बांधता है। 'मुक्षीजा' क्या पदार्थ है?

सायण के कथनानुसार तो 'मुक्षीजा' का अर्थ मृग पक्षी आदि को बांधने की रस्सी है। यहां महर्षि दयानन्द ने 'मुक्षीजा' शब्द का अर्थ बड़ी स्पष्टता से खोला है। महर्षि के पदार्थ भाष्य में स्पष्ट लिखा है।

मुक्ष्या मुञ्जाया जायते सा मुक्षीजा तया।

अर्थात् मूंज की बनी रस्सी 'मुक्षीजा' है। तो मूंज की बनी रस्सी से जिस प्रकार पशु का स्वामी अश्व आदि पशु को बांध लेता है उसी प्रकार आचार्य भी समीप आये शिष्य को मूंज की रस्सी से बांध लेता है।

पाठक स्वयं विचार लें कि मुंज की बनी रस्सी से शिष्य को बांध लेने का क्या तात्पर्य है। उपनयन काल में वेदारम्भ के अवसर पर आचार्य मूंज की बनी मेखला से शिष्य और शिष्याओं को बांधता था। जैसा कि मनु ने स्पष्ट लिखा है—

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
मनु। अ० २।४२ ॥

मूंज की बनी तिगुनी बटी नरम कोमल स्पर्श वाली मेखला बालक को देनी चाहिये।

मुञ्जालाभे तु कर्त्तव्या कुशाश्मन्तकबल्वजैः।
मनु २।४३ ॥

मूंज न मिले तो तज्जातीय तृण कुश आदि अन्य तृणों की बना लेनी चाहिये।

कन्याओं के लिये भी वेद का यही सामान्य विधान है जैसा कि मनु ने अन्यत्र लिखा है।

पुराकाले तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।

फलतः यह स्पष्ट हो गया कि ब्रह्मचारी गुरु के पास अपने वयस में गुरु के समीप जाता है, उसे गुरु मूंज की मेखला से बांधता है अब प्रश्न यह है कि उस समय ब्रह्मचारी का क्या स्वरूप है। वेद उसको 'पदि' नाम से कहता है वह उस समय पदि अर्थात् चलने फिरने वाला। चञ्चल भ्रमणशील है, उसका मन, इन्द्रियां, आत्मा आदि अस्थिर हैं, इस कारण उसको आचार्य 'उत्सिनाति' उत्तम रीति से बांधता है। आचार्य उस व्यक्ति को सर्वोत्तम सम्बन्ध या बन्धन से बांधता है। यह आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध अन्य सभी सम्बन्धों से सर्वोत्कृष्ट है। इस सम्बन्ध से उत्पन्न जो जाति अर्थात् जन्म पुनः बालक को प्राप्त होता है वह उसके लिये अजर, अमर होता है।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥
मनु २।१४८ ॥

फलतः आचार्य शिष्य को मूंज की रस्सी से बांधता है तोभी उत्तम, सर्वतः पूज्य बन्धन से बांधता है, तब फिर वह उस शिष्य को क्या देता है। वेद कहता है—

य उत्सिनाति स इन्द्रः अस्मै बृहत् वयः दधाति ॥

जो आचार्य उस शिष्य को उत्तम सम्बन्ध से मूंज द्वारा बांध लेता है उसको वह इन्द्र 'बृहत् वयस्' देता है।

इस वाक्य में आचार्य को 'इन्द्र' कहा है। और वह जो पदार्थ धारण कराता है उसे 'वयस्' कहा है। यहां वेद ने कितना उत्तम गौरवपूर्ण भाव अति संक्षेप में कहा है। मनु ने इस तत्व को बतलाने के लिये द्वितीय अध्याय में कई श्लोक कहे हैं परन्तु वेद ने एक वाक्य में ही सब कह डाला।

'वयस्' का अर्थ जीवन, बल और ज्ञान है। जीवन का देना तो पिता का काम है। माता पिता भी देह में बसने योग्य बीज रूप से प्राप्त जीवको गर्भाशय में बद्ध करते हैं और फिर उसको (वयः) जीवन प्रदान करते हैं उसी प्रकार यह आचार्य भी उस वसु या अन्तेवासी रूप से प्राप्त शिष्य को उत्तम बन्धन में बांधकर (वयः) जीवन धारण कराता है। कैसे ? इस प्रश्नका उत्तर तो बहुत लम्बा है ? तोभी यहां इतना ही लिखना प्रकरण को स्पष्ट करता है कि मनु के शब्दों में आचार्य भी बालक को जन्म देता है, जैसा लिखा है—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥
२।१६१ ७

प्रथम जन्म माता से होता है, दूसरा जन्म मौञ्जीबन्धन अर्थात् उपनयन के अवसर पर होता है, तीसरा यज्ञ की दीक्षा में जन्म होता है। श्रुति, वेद ने इसी प्रकार की आज्ञा दी है। वेद ने क्या आज्ञा दी है ? यह इसी मन्त्र में स्पष्ट कहा है। 'बृहद् अस्मै वय इन्द्रो दधाति।' शिष्य को आचार्य 'इन्द्र' बड़ा भारी जीवन देता है।

तत्र यद् ब्रह्म जन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिन्हितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥
वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते । इत्यादि ।
मनु २।१७।१७१ ॥

अब 'वयस्' के दूसरे अर्थों पर दृष्टि डालिये। आचार्य शिष्य को बड़ा भारी (वयः) 'वयस्' अर्थात्

strong in me to publish the interpretations of yâska and other old expositors of the Veda."

"त्रयी संग्रह पुस्तक का जब संकलन हो रहा था उस समय मुझे अनुभव हुआ कि सायण के भाष्य में बहुत से मन्त्रों के यथार्थ भाव प्रकट नहीं हो सके, इसलिये मुझमें यह इच्छा प्रबल हुई कि यास्क तथा अन्य प्राचीन भाष्यकारों के भावार्थों का मैं स्वयं उद्घाटन करूं।"

वे आगे लिखते हैं—

2—"At a time when photography, phonography, gaslight, the telegraph, the telephone, Railway and baloons had not been introduced in to the country, how could our people understand any verses referring to these things."

उस समय[1] जबकि फोटोग्राफी, फोनोग्राफी, गैसलाइट, टैलिग्राफ, टैलिफोन, रेलवे और हवाई जहाजों का भारत में प्रचार न था, किस प्रकार भारत के वेदभाष्यकर्त्ता उन मन्त्रों के यथार्थ रहस्यों को समझ सकते थे, जिन में कि इन वस्तुओं के इशारे हों।"

वे आगे और लिखते हैं:—

3—"Our opinion is that in vedice times our country had made extraordinary progress. In those days the sciences of geology, Asronomy, and chemistry were called "आधिदैविक विद्या" and those of physiology, psychology and theology "अध्यात्म विद्या." Though the works embodying the scientific knowledge of those times are entirely lost, these are sufficient indications in vedic works of those sciences having been widely known in those days. It is needless to say that the reason why these indications are not understood now, is due to the imperfact interpretation of an expositor having no knowledge of the sciences. The study of certain portions of the vedas leads even to the conclusion that certain scientific researches had been carried in the country to such perfection that.....even America. the constant sourse of scientific discoveries, and the advanced countries of Europe have not yet attained it. It is this which makes it impossible for us to understand the real purport of such passages. In fact, a full and satisfactory interpretations of the veda requires a perfact familiarity with all the sciences on the part of the expositor, and it is simply a misfortune to undertake its exposition without such familiarity.

"हमारी सम्मति है कि वैदिक काल में हमारे भारत देश ने पर्याप्त उन्नति करली थी। उस समय भूगर्भ विद्या, ज्योतिष और रसायन विद्या को आधिदैविक विद्या कहा जाता था और शरीर विद्या, मनोविज्ञान तथा ब्रह्म विद्या को अध्यात्मविद्या। उस समय के वैज्ञानिक ग्रन्थ यद्यपि इस समय सर्वथा लुप्त हो

[1]—पं० सत्यव्रत सामश्रमी यहां सामणाचार्य के समय की ओर निर्देश कर रहे हैं।

गए हैं तो भी वेदों में उन विज्ञानों के सम्बन्ध के पर्य्याप्त निर्देश मिलते हैं जिन से प्रतीत होता है कि वैदिक काल में उन विज्ञानों का पर्य्याप्त प्रचार था। वेदों के भाष्यकारों को चूंकि स्वयं ऐसे विज्ञानों का परिज्ञान नहीं होता इसलिये वे वेदों में आए वैज्ञानिक निर्देशों को ठीक प्रकार समझ नहीं सकते। वेदों के कतिपय भागों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भारत भूमि में कई वैज्ञानिक खोजें इतनी गहरी भी हो चुकी हैं कि वैज्ञानिक अन्वेषणों के अग्रसर अमेरिका तथा युरोप के उन्नत देश भी अभी तक उस गहराई तक पहुंच नहीं पाए। इसी कारण अर्थात् 'वैदिक विज्ञान' की गहराई के समझ सकने के साधनों के न होने के कारण ही हम वेदों के कई अंशों के वास्तविक अभिप्रायों को समझ नहीं सकते। वास्तव में वेदों की पूर्ण तथा सन्तोषप्रद व्याख्या के लिये आवश्यक है कि व्याख्याता को सभी विज्ञानों और उनकी शाखाओं से पूर्ण परिचय हो। बिना इस पूर्ण परिचय के वेदों के भाष्य के लिये यत्न करना दौर्भाग्य तथा अनिष्ट है।" वे आगे और लिखते हैं:—

4—"It is perfactly plain, therefore, that it is only one that has attained a thorough knowledge of Agriculture, commerce, Geology, Astronomy, Hydrostatics, Igneology, Botany, Zoology physiology, and the science of war, can alone be a fit interpreter of the vedas, and that, it is only a commentary written by such an expositor that can alone give full satisfaction and remove all doubts."

"इसीलिये यह स्पष्ट है कि वही मनुष्य वेदों का योग्य भाष्यकार हो सकता है जिसे कि कृषि शास्त्र, व्यापार, भूगर्भ शास्त्र, ज्योतिष, जल-स्थिति विद्या, अग्नि विद्या, वनस्पति शास्त्र, जीव शास्त्र, शरीर शास्त्र, तथा युद्धविद्या आदि का पूर्ण ज्ञान हो। ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया भाष्य ही केवल पूर्ण सन्तोष दे सकता है और सब प्रकार के संशयों को मिटा सकता है।".

आचार्य देवपाल और कण्ववंश, तथा विमान

'वैदिक विज्ञान' के प्रथमांक में वायुरथ पर एक लेख प्रकाशित हुआ था। इस सम्बन्ध में निम्न लिखित मन्त्र की व्याख्या की गई थी:—

> क्रीडं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथे शुभम्।
> कण्वा अभि प्रगायत॥

यह मन्त्र ऋग्वेद का है। इस पर आचार्य देवपाल का भाष्य भी है जो कि लौगाक्षिगृह्यसूत्रों के भाष्य के प्रसंग में प्राप्त हुआ है। 'वैदिक विज्ञान' में उपरोक्त लेख लिखते समय हमें इस सम्बन्ध में आचार्य देवपाल की सम्मति का परिचय न था। पाठकों के सन्मुख इस मन्त्र के सम्बन्ध में इस आचार्य की सम्मति रखी जाती है। आचार्य देवपाल का लेख इस सम्बन्ध में निम्न लिखित है। यथा:—

"हे मरुतः वः युष्माकं सम्बन्धि शर्धः बलं, क्रीडं क्रीडयतु अस्मान्। कणतिः शब्दकर्मा, कणन्तीति कण्वा वायवः, यूयमेव मारुतं मरुतां सम्बन्धि शर्धः प्रगायत कथयत, यादृशं तदिति। कीदृशं शर्धः, रथे शुभं रथविमानादीनामनुकूलं गमने, तथानर्वाणं लिंगव्यत्ययः, अनर्वं अप्रच्युतमित्यर्थः।"

"हे (मरुतः) वायुओ ! तुम्हारा जो बल है वह हमारी क्रीड़ा का साधन बने। तुम कण्व हो अर्थात् शब्द करने वाला वायु हो, तुम ही हमें कहो जैसा कि अद्वितीय बल मरुतों का हुआ करता है। वह बल जो कि रथों के निमित्त शुभ होता है अर्थात् रथ और विमान आदि के चलाने के अनुकूल होता है, तथा जो अप्रच्युत है, जिसका कि कोई मुकाबला नहीं कर सकता, जिसका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता।"

आचार्य देवपाल के इस लेख से तीन परिणाम निकलते हैं। :—

१—मरुतों या वायुओं के बल का प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है जो कि हमारी क्रीड़ा का साधन बन सके। आजकल की मोटरें आदि रथ क्रीड़ा के ही साधन हैं।

२—मरुतों के बल को रथों तथा विमानों के चलने के अनुकूल प्रयुक्त किया जा सकता है।

३—कण्व शब्द वेद में कण्व ऋषि के वंश के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त होता हो यह नहीं। सायणाचार्य ने इस मन्त्र में कण्व से अर्थ लिया है कण्व गोत्र के ऋषि। परन्तु आचार्य देवपाल ने यहां कण्व का अर्थ किया है शब्द करने वाले वायु। इस प्रकार इस मन्त्र में ऐतिहासिक व्यक्ति का नाम है या नहीं इस सम्बन्ध में भी प्रकाश पड़ता है। (वि० ना०)

वैदिक भाषा की चित्रता

संस्कृत साहित्य में 'चित्र' का अर्थ अलंकार है। बर्तमान संस्कृत साहित्य के भीतर केवल रचना शैली से ही बहुत से कवियों के बनाये ग्रन्थ अपनी अपनी विशेषता के लिये प्रसिद्ध हैं। जैसे कालिदास का रघुवंश उपमा के लिये अनुपम है। बाण की कादम्बरी में सुन्दर श्लेषमय सरस भाषा की क्या कमी ? श्री हर्ष के नैषधीय चरित में औपनिषदिक तत्व के साथ साथ नलकी कथा का प्रपञ्च अति चित्ताकर्षक, अति विचारणीय है। नाना पुराणों में कथा वैचित्र्य के साथ श्लिष्ट नामों से इष्ट देव का निरूपण अति उत्तम रीति से है। त्रिविक्रम भट्ट के नल चम्पू तथा सुबन्धु की वासवदत्ता आदि में जटिल श्लेषमय प्रपञ्च का अद्भुत जाल है। स्थान २ पर चित्रोक्तियां हैं जिनके ऊपर से देखने से कुछ ही अर्थ प्रतीत होते हैं और विचारपूर्वक देखने से महत्वपूर्ण अर्थों की प्रतीति होती है। वाणी की इस चित्रता ने ही इन कवियों के ग्रन्थों के प्रति अभी तक विद्वानों के चित्तों को खैंच रखा है। वे उन ग्रन्थों के विचित्र विनोद युक्त, पाण्डित्य से पूर्ण स्थलों को पढ़कर सराहते हैं, उनपर बार २ मुग्ध होते हैं, उनको याद करते हैं, उनको अपनी बुद्धि-वृद्धि के लिये टीका सहित पढ़ते और अभ्यास करते हैं उसके मर्म का ऊहापोह करते हैं। क्यों ? क्योंकि इनको उन ग्रन्थों की भाषा से सजीव गंभीरता, बुद्धि पूर्वकता और विनोदमय हास्य, और चतुरता, दृष्टि गोचर होती है। हमने इस प्रश्न पर कभी विचार नहीं किया कि उक्त प्राचीन विद्वानों ने यह सब चित्रोक्तियां, अलंकारमयी वाणियां कहां से सीखी हैं ? क्या उनकी उस विचित्र वाणी के पूर्व भी कोई वैसी ही आदर्श वाणी विद्यमान थी जिसको देख कर उनको अपने ग्रन्थों को उत्कृष्ट बनाने की अद्भुत शैलियां ज्ञात हुई ? या हम केवल विकासवाद के अन्धे भक्त होकर मानलें कि उत्तरोत्तर इसीप्रकार संस्कृत भाषा का विकास होता रहा,

विद्वानों में उत्तरोत्तर चित्र वाणी का उदय हुआ और आखिर उच्च शिखरपर स्थित बाण, सुबन्ध और श्री हर्ष आदि कवियों ने श्लेषोक्तियों और कालिदास आदि ने रसपूर्ण कविताओं का चरम नमूना पेश कर दिया। यह सब कुढङ्गे विचार प्रायः योरोपीयनों द्वारा हमारे बीच फैलाये गये हैं। हमें यह बतलाने का यत्न किया गया है कि वेद बहुत सरल भाषा में हैं, उनकी भाषा नीरस, अव्यस्थित, तथा विनोद रहित और सरल आदिम लोगों की है। इत्यादि।

परन्तु हमें केवल ये बातें सुन कर कभी सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये। यह उक्त बातें हम तबतक मान सकते हैं जबतक स्वयं वेद की भाषा का उत्तम रीति से अध्ययन न करलें। वेद की भाषा का गहरा स्वाध्याय बतलाता है कि वेद की भाषा अति जटिल चित्रोक्तियों, रहस्यमय वचनों से पूर्ण, अति दार्शनिक, नाना पारिभाषिक शब्दों से भरी हुई, अलंकारों, शब्द चित्रों से जड़ी और नानाश्लेषों से पूर्ण है। जिन और जिस २ तरह २ की चित्रोक्तियों से वेद वाणी अलंकृत है उनके बहुत २ स्वल्प दृष्टान्त ही कहीं २ उत्तम कोटि के कवियों की वाणियों में दिखाई देते हैं। इसका कारण यह है कि अर्वाचीन कविजन कोशप्रोक्त नानार्थों पर ही निर्भर थे। परन्तु वेद वाणी का प्रत्येक शब्द यौगिक होने से वह स्वभावतः, बिना किसी कोष की अपेक्षा किये नानार्थों को बतलाने में समर्थ हुआ है। इस कारण वेद की भाषा बहुत ही अद्भुत और रहस्यमयी हो गयी। उत्तम कोटि के कवियों को भी जब केवल कोष के कहे नानार्थों की सीमा में बंधकर चित्र वाणी कहने में बाधा पड़ी तब वे स्पष्ट कोषों की सीमा को तिरस्कार करके शब्दों की आख्यातज रचना के आधार पर ही अद्भुत २ व्यंग्यपूर्ण चित्र वाणियों के कहने में समर्थ हुए। इसके अनेक उदाहरण नैषधीय चारित आदि में प्रायः पाये जा सकते हैं। क्योंकि वेदों की नानार्थक मन्त्र योजनाएं अधिक श्रमपूर्वक समझ में आती थीं इसलिये उनके रहस्यार्थज्ञाता भी दुर्लभ हो गये। वेद को सरल करने के लिये पद पाठ की संहिताएं, और वेद को क्रम से याद करने के लिये स्थूल कर्मकाण्ड और व्याख्या के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों की रचनाएं भी हुई परन्तु तो भी यह वैदिक साहित्य कुछ सर्व साधारण की विनोदप्रियता की सीमा से बहुत दूर चला गया। तो भी उसकी मूर्धन्यता अबतक सबके हृदयों पर छाई हुई है। अब हम नमूने के लिये वेद की चित्रोक्तिता पर कुछ प्रकाश डालते हैं। जैसे ऋग्वेद में (५।४०।५) मन्त्र है।

यत् त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥

इस मन्त्र में सूर्य, स्वः, भानुः तीनों शब्द लौकिक दृष्टि से एकार्थ वाचक हैं। तीनों पद एक दूसरे को पुनरुक्त सा करते हैं। यही पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। जो 'स्वर्भानु' अर्थात् प्रकाशमय तेज वाला पदार्थ है वह सूर्य को तम से बेंधे, यह विरोध प्रतीत होता है यहां विरोधाभासालंकार है। इसका स्थूल दृष्टि से अर्थ करने से यह अर्थ प्रतीत होता है कि—हे सूर्य! तुझको जब 'स्वर्भानु' तम से बेंधता है उस समय मूढ जन क्षेत्र (खेत) को भी नहीं जान पाता और भुवन दीखते हैं। लौकिक संस्कृत से 'स्वर्भानु' राहू को कहते हैं। तो स्पष्ट हुआ कि हे सूर्य! जब राहू तुझको तमसे बेंध देता है तो अन्धकार हो जाता है, ग्राम में किसान को अपना खेत भी नहीं सूझता और भुवन अर्थात् आकाश के तारे भी दीखने लगते हैं।

परन्तु वेद को केवल इतना ही कहना अभीष्ट नहीं जंचता। स्वर्भानु शब्द क्यों कर 'राहु' का बाचक है यह भी एक समस्या है। अर्वाचीन कालके बने अमर कोष आदि यहां वेदार्थ में प्रमाण नहीं हो सकते। फलतः यहां तात्विक कारण की खोज करनी होगी। 'स्वर्भानु' इसमें 'स्वः' का अर्थ है, शब्द, ज्ञान, ताप और प्रकाश वा सूर्य। क्योंकि पहला हमारा अर्थ सूर्य परक है अतः हम यहां प्रकाश या सूर्य ही लेते हैं। 'स्वः' सूर्य का प्रकाश ही है भानु अर्थात् तेज जिसका, वह स्वर्भानु है। चन्द्र आदि लोक स्वयं प्रकाश रहित हैं, वे सूर्य के ही प्रकाश से प्रकाशित हैं, इसलिये वे स्वर्भानु

हैं। वे सूर्य के प्रकाश में आकर एक ओर प्रकाशित और दूसरी ओर अप्रकाशित रहते हैं। उनके अप्रकाशित भाग में 'तम' रहता है। वह तमःशंकु जब सूर्य का वेध करता है अर्थात् वह एक सीध में आजाता है तब खगोलीय ज्यामिति के अनुसार चन्द्रमा का गोला सूर्य को ढांप लेता है, और अन्धकार हो जाता है। उस समय मूर्ख लोग, मुग्ध होकर नाना कल्पना करते हैं। कोई राहु के शिर की कल्पना करते हैं परन्तु वे सब 'अक्षेत्रवित्' हैं। वे क्षेत्रमिति या ज्यामिति को नहीं जानने से चन्द्र के तमोमय शंकु के वेध को नहीं जानते। अन्धकार हो जाने से उस समय समस्त नक्षत्र भी दीखते हैं। यह तो ज्योतिष के यथार्थ तत्व का निदर्शक पक्ष है।

इस मन्त्र में 'अक्षेत्र वित्' पद आया है। उसमें 'क्षेत्र' का अर्थ दार्शनिक दृष्टि से देह, है। उसको लाभ करने वाला जीव क्षेत्रज्ञ या क्षेत्रवित् है। उसको न जानने वाला अनात्मज्ञ, अक्षेत्रवित् है। वह जीव भी मोह में पड़कर ही ऐसी अनात्मज्ञ दशा में पहुंचा है इसलिये वह मुग्ध भी है, उसके भुवन अर्थात् जन्म ही जन्म दीखते हैं। कब? हे सूर्यवत् स्वप्रकाश आत्मन्! (त्वा) तुझको जब (आसुरः) ऐश्वर्य से रहित, प्राणों में रमण करने वाला (स्वर्भानुः) 'स्वर्' स्वयं राजमान आत्मा से प्रकाशवान्, यह जड़ देह (तमसा) प्रकृति के तमोगुण से (अविध्यत्) वेधता है, ऐसे वेधता है जैसे सूत्र मणि को वेधता है, अर्थात् जब देहमय बन्धन 'तमोगुण' से आत्मा को वेध लेता है तब आत्मा मोहयुक्त 'अक्षेत्रज्ञ' हो जाता है और तब उसके अनेक जन्म ही जन्म दीखते हैं।

देखिये पाठकगण यहां ज्योतिष के सूर्य ग्रहण, और अध्यात्म तत्व में जीव का तमोगुण से देह बन्धन का वर्णन कैसा श्लिष्ट है। इसके साथ ही जब किसी तेजस्वी राजा को अन्य शस्त्रास्त्र बल से सम्पन्न, बलवान् राजा अन्धकार तुल्य शत्रु को अपने बल से बेंधता है तो यह भी मोहयुक्त विमूढ़ होकर क्षेत्र अर्थात् पृथ्वी या रणक्षेत्र से हाथ धो बैठता है। उसको 'भुवनानि' कुश्ती में पछाड़ खाये हुए चित् पुरुष के समान तारे ही दीखते हैं। अथवा उसे उस समय सब वैसा देखते हैं। इस प्रकार राजनैतिक तत्व में वेही शब्द श्लेष वृत्ति से दूसरा ही अर्थ प्रगट करते हैं। इस पक्ष में 'स्वः' का अर्थ उपतापकारी सैन्य बल है। उसके तेज से तेजस्वी बलवान् पुरुष 'स्वर्भानु' है। और परपक्ष को वायु वेगवत् उखाड़ फेंकने वाला पुरुष 'आसुर' है।

इन सब ही अर्थों में सब से उच्चकोटि का अर्थ औपनिषदिक तत्वार्थ है। इसलिये हमें उसको वेद का परम सिद्धान्त जानकर शेष गौणार्थ उसके ही श्लेष मुखेन गौण उपमान से जंचते हैं। पाठकगण जरा इस मन्त्र के साथ नीचे लिखे उपनिषद् के वचन की संगति भी लगावें।

> हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
> तत्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।
> पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
> तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं पश्याम्यसावसौ पुरुषः सोहमस्मि। ईशोपनिषद्॥

अभी इस मन्त्र में और भी कितने ही व्यंग्य हैं जिनको फिर कभी दर्शावेंगे। यहां तो केवल वेद की उत्कृष्ट अलंकृत भाषा का एक नमूनामात्र दर्शाया गया है। (श्री० जयदेव शर्मा)

चेतना—अग्नि LIFE AND FIRE

जीव या चेतना का क्या स्वरूप है, उसको हम किस रूप में अनुभव करते हैं यह कहना बड़ा ही कठिन है। परन्तु वैज्ञानिक विवेचना इस सूक्ष्म रहस्य में अवश्य प्रवेश कर गई है। प्रश्नोपनिषद् के प्रथम प्रश्न में कबन्धी कात्ययान के प्रश्न के उत्तर में भगवान् पिप्पलाद ने उपदेश दिया है कि—

> सएष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम्।
> विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
> सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥

वह यह वैश्वानर रूप, विश्वरूप प्राण--अग्नि उदय होता है। यही वेद मन्त्र ने कहा है-विश्वरूप,हरिण,जातवेदा, पर अयन, एक तपता ज्योति, हजारों रश्मिवाला सैकड़ों रूप से वर्तमान, प्रजाओं का प्राण रूप, सूर्य उदय होता है।

इन उद्धरणों में बड़ी ही ध्यानाकर्षक बात यह है कि प्राण को 'अग्नि' कहा गया है, प्राण को ज्योतिर्मय 'सूर्य' कहा गया है, उसमें विशेष क्रिया 'तपन' मानी गयी है। वह प्राण ताप उत्पन्न करता है, वह 'हरिण' अर्थात् गति शील है, उसकी हजारों रश्मि हजारों किरणोंवन् रासे हैं जो सैकड़ों रूप से प्राणियों के देहों के रूप में वर्तमान अर्थात् चेष्टा करता हुआ दिखाई दे रहा है। उस का स्वरूप है प्रजाओं का प्राण, अर्थात् उत्पन्न होने वाले जीवों की चेतना। वह सूर्य के समान उदय होता है। सूर्य जिस प्रकार अन्धकार से उदय होता है और पुनः प्रकाश कर देता है उसी प्रकार यह प्राण या चेतनामय ज्योति अचेतन जड़ पदार्थों के बीच प्रकट होता है और उनको चेतना से युक्त करता और प्रकाशित कर देता है। वह 'विश्वरूप' है अर्थात् देह २ में प्रवेश करनेवाला जीव,देहमें प्रवेश करने से 'विश्व' और रुचि युक्त होने से 'रूप' कहाता है। अर्थात् देह में प्रविष्ट 'जीव' रुचि अर्थात् कान्ति रूप है या 'रुचि' अर्थात् उसको अच्छा लगना, कामना या इच्छारूप है। वह चाहता है, वह ग्राह्य पदार्थों को लेने या भोगने की चेष्टा करता है, इस प्रकार 'विश्व' अर्थात् देहों में प्रविष्ट कामना, इच्छा या चेष्टा रूप वह प्राण रूप 'अग्नि' है। वह प्रत्येक उत्पन्न प्राणिमात्र में ज्ञान रूप से उपलब्ध होता है इसलिये 'जातवेदाः' है। प्रत्येक उत्पन्न देह में वही जीव सुख दुःख वेदना को अनुभव करता है इसलिये भी वह 'जातवेदाः' है। वही इन समस्त प्रजाओं का सञ्चालक होने से 'वैश्वानर' है। इस प्रकार उपनिषद् ग्रन्थ की पंक्तियों के प्रत्येक अक्षर में तात्विक रहस्य छिपा है। परन्तु यह कल्पना करना कितना आश्चर्य जनक होगा कि किसी प्राचीन शास्त्रज्ञ ने 'प्राण' को 'अग्नि' रूप कैसे अनुभव कर लिया। इस तत्व को वैज्ञानिक सिद्धान्त ने किस प्रकार से निश्चय किया। 'वेद' का अर्थ विज्ञान है। विज्ञान का सिद्धान्त या वेद का सिद्धान्त ही वेदान्त अर्थात् उपनिषतत्व है। उसको कैसे जानें सिवाय इसके कि हम इसे प्राचीन ऋषियों की विवेकशील बुद्धि का साक्षात्कार समझें और इस वेद वचन में नपे तुले रहस्यार्थ पूर्ण पद विन्यास को दिव्य वैज्ञानिक पंक्ति माने और क्या हो सकता है। अब इसकी पुष्टि में हम वैज्ञानिक विद्वानों के सिद्धान्तों पर भी दृष्टि डालें।

योरोप के प्रसिद्ध विद्वान् वैज्ञानिक एच. जी वैल्स जूलियन हक्सले H. G. Wells Julian Haxley) तथा जी० पी वैल्स (G. P. Well) दोनों ने मिल कर तीन विशाल खण्डोंमें एक पुस्तक जीवन विज्ञान पर लिखा है जिसका नाम है The Science of Life जीवन का विज्ञान। उसमें वैज्ञानिक युगल जीवन के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं।

A hot piece of metal or stone will in a short time, cool down to the temperature of the surrounding air, but a living body is always warm to the touch. A mouse or a man like any warm object, looses heat continually to the cooler air which surrounds him, but he has internal source of energy which compensate for his loss, so that his temperature is always slightly higher than that of his surroundings.

Always, almost unconsciously, a mammel is inhaling and exhaling air. It hardly realises the necessity of that untill under some exceptional conditions, the supply is cut off and suffocation begins. But you can put a man out just as you put a fire out by stopp-

ing the air supply. If we take the air a man breaths out and analyse it, we find that he has used some of the oxygen gas that normally air contains and we find substances water vapour and carbon dioxide which are precisely what we could expect to be exhaled if the oxygen were used for disrupting the food in order to yield energy. A petrol motor or a fire do exactly the same; in both cases besides fuel there must be a supply of air and in both case oxigen is used up and carbon dioxide and water vapour are given out.

We can measure the amount of food that a man or an animal consumes over a given period of time and we can measure the energy yeilded during the same period. If we burn an equal weight of similar food in a suitable apperatus and find out how much energy its combustion yeilds and if this value is equal to the energy yeilded by the experimental subject then evidently the living organism so far as its energy output is concerned is really and precisely a combustion engine.

अर्थात्—धातु या पत्थर का गरम टुकड़ा थोड़े ही समय में अपने आस पास की हवा के समान ठण्डा हो जाता है। परन्तु जीता देह सदा छूते ही गर्म मालूम होता है। चूहा या मनुष्य भी गरम पदार्थ के समान अपना ताप बखेरता रहता है। परन्तु उसके भीतर ताकत का भीतरी खजाना है जो उसकी खोई शक्ति को पूर्ण कर देता है। और वह आस पास के पदार्थों से अधिक गरम मालूम देता है। सभी जीव अनायास स्वयं, विना ध्यान दिये ही प्राण लेते और छोड़ते रहते हैं यदि विशेष कारण से उसका श्वास न रुके और दम न घुटे तो उसे श्वास प्रश्वास की आवश्यकता भी मालूम न हो। परन्तु तुम मनुष्य के जीवन को आग के समान बुझा सकते हो। यदि मनुष्य के छोड़े हुए श्वास का विश्लेषण करें तो पता लगेगा कि उसने वायु में विद्यमान आक्सिजन गैस काम में लिया है, और उसके श्वास में जलवाष्प, कार्बन डायक्साईड, मिलता है। यही पदार्थ उस समय भी मिलता यदि केवल आक्सिजन को ही हम भोजन को पचाकर शक्ति प्राप्त करने में प्रयुक्त करते। पेट्रोल से चलने वाला मोटर और अग्नि भी यही करता है। इस ईन्धन के सिवाय दोनों को हवा की आवश्यकता है दोनों दशा में आक्सिजन व्यय होता है और कार्बन डायक्साईड और जल बनते हैं।

पशु या मनुष्य कुछ नियत समय में जो भोजन पा लेता है उसको और उससे प्राप्त शक्ति को भी मापा जा सकता है, यदि उतना ही भोजन उचित यन्त्र में रखकर, जलाकर उससे उत्पन्न शक्ति को मापें तो दोनों बराबर निकलेंगी। इससे सिद्ध हो जाता है कि जीव या जन्तु अपनी शक्ति की दृष्टि से निश्चय जलता तपता एञ्जिन है। इत्यादि।

हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि नवीन वैज्ञानिकों ने भी जीवन की अग्नि से ही तुलना की है। और वह खाली जबान के जमा खर्च पर नहीं, प्रत्युत परीक्षणों द्वारा जीवन शक्ति को अग्नि शक्ति से माप २ कर समान रूप से दर्शाया है।

अर्थात्—इस प्रकार विज्ञान ने भीजीवन तत्व के बाह्य प्राकृतिक रूप से स्वीकार किया है कि प्राण या जीवन अग्नि के समान है। और अग्नि प्राणवत् है। दोनों ही मूलतः एक हैं। तब फिर यदि प्राचीन विद्वानों ने और उनसे भी पूर्व के वेद भगवान् ने चेतना को अग्नि रूप कहा तो कितनी भारी वैज्ञानिक सत्यता कथन करके अपना गौरव बढ़ाया है। वेद ही हमको बतलाता है कि यह जीवन ही 'अग्निहोत्र' के समान है जिसका स्पष्टीकरण वैज्ञानिकों की सम्मति सहित फिर किसी अङ्क में लिखेंगे। (श्री जयदेव शर्मा)

Registered No. N—502